प्रधान संपादक

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, एम० ए० (लंदन)

शिक्षा-प्रसार अफ़सर, संयुक्त प्रांत

संयुक्त संपादक

श्री० कृष्णवल्लभ द्विवेदी, बी० ए०

सहयोगी विशेष संपादक तथा लेखक

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, डी० एस-सी० (लंदन), रीडर, इतिहास, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिन०), एफ़० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम० ए०, हेडमास्टर, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्टस् एण्ड क्राफ़्टस्, लखनऊ।

डा० डी० एन० मजुमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस०, एफ़० आर० ए० आई०, लेक्चरर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय, एम० एस-सी०, डी० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, क्यूरेटर, प्राविंशियल म्यूज़ियम ऑफ़ आर्कियालाजी, लखनऊ।

डा० सत्यनारायण शास्त्री, पी-एच० डी० (हाइडलबर्ग)।

श्री सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० काम०, लेक्चरर, अर्थशास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, लेक्चरर, रसायन विज्ञान, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

श्री० कुँवर सेन, एम० ए० (कैंटब), बार-एट-लॉ; जूडीशियल मिनिस्टर, जोधपुर स्टेट; भूतपूर्व प्रिंसिपल, लॉ कालेज, लाहौर।

डा० इबादुर रहमान खाँ, पी-एच० डी० (लंदन), प्रिंसिपल, बेसिक ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद; भूतपूर्व अध्यक्ष, भूगोल-विभाग, अलीगढ़-विश्वविद्यालय।

श्री० भैरवनाथ झा, बी० एस-सी०, बी० एड० (एडिन०), इंस्पैक्टर ऑफ़ स्कूल्स, यू० पी०।

डा० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), डी० आई० सी०, प्रोफ़ेसर, आर्थिक भू-विज्ञान, तथा अध्यक्ष, ग्लास-टेकनालाजी डिपार्टमेंट, काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय।

श्री० ब्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०, लेक्चरर, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान, किशोरी-रमण इंटरमीडिएट कालेज, मथुरा।

श्री० रामनारायण कपूर, बी० एस-सी० (मेटलार्जी)।

श्री० श्यामनारायण कपूर, बी० एस-सी०।

श्री० सुरेन्द्रदेव बालुपुरी।

आदि, आदि।

संयोजक और प्रकाशक

श्री० राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड,

चारबाग, लखनऊ.

इस अंक की विषय-सूची

विश्व की कहानी

पृथ्वी की कहानी

मनुष्य की कहानी

विश्व की कहानी

सूर्य के पृष्ठ के दो चित्र

(ऊपर) साधारण प्रकाश द्वारा लिया गया सूर्य के पृष्ठ का एक फ़ोटो। इसमें दिखाई दे रहे काले धब्बे सूर्यकलंक हैं, जिनमें से कई हमारी पृथ्वी से कई गुना बड़े हैं। (बाईं ओर) सूर्य के पृष्ठ का हाइड्रोजन के प्रकाश से लिया गया एक फ़ोटो। इसमें सूर्य के ऊपरी वायुमंडल में छाये हुए हाइड्रोजन गैस के बादलों का अद्भुत दृश्य है। बीच-बीच में काले बिंदु और उनके आसपास भँवर की तरह दिखाई दे रहे बवण्डर ही सूर्यकलंक हैं। [फ़ोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

सूर्य-कलंक

सूर्य की बनावट का अध्ययन करते समय जब हम दूरदर्शक द्वारा उसके पृष्ठ पर दृष्टि डालते हैं, तो सर्वप्रथम एक विचित्र प्रकार के काले धब्बों पर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। ये धब्बे या कलंक क्या हैं, इस प्रकरण में इसी की चर्चा की गई है।

चंद्रमा पर कलंक—काले धब्बे—हैं, यह सभी जानते हैं। उनको सभी ने कई बार देखा होगा। परंतु क्या सूर्य पर भी कलंक हैं? हाँ, सूर्य पर भी कलंक दिखलाई पड़ते हैं, परंतु वे कभी छोटे, कभी बड़े, कभी कम, कभी बहुत-से होते हैं। सूर्य को कालिख-लगे शीशे द्वारा देखने पर ये धब्बे कभी-कभी कोरी आँख से—बिना दूरदर्शक या किसी अन्य यंत्र की सहायता लिये भी—देखे जा सकते हैं। परंतु इतने बड़े धब्बे, जो इस प्रकार देखे जा सकें, कभी-ही-कभी बनते हैं। साधारणतः ये धब्बे छोटे होते हैं और उनको देखने के लिए दूरदर्शक यंत्र की आवश्यकता पड़ती है।

चीन देश के पुराने इतिहास-ग्रन्थों में इन सूर्य-कलंकों की चर्चा मिलती है। सन् १८८ ई० से लेकर सन् १६३८ ई० तक ६५ कलंकों की चर्चा है। ये सब कोरी आँख से ही देखे गये थे। साधारणतः इनको धब्बा बतलाकर ही छोड़ दिया गया है, परंतु पाँच बार इनकी शक्ल चिड़ियों की-सी या उड़ती हुई चिड़ियों की-सी बतलाई गई है; दो बार इनकी शक्ल अंडे के समान और चार बार सेब के समान बतलाई गई है। अन्य देशों के इतिहास-ग्रन्थों में इनकी चर्चा नहीं मिली है, जिससे जान पड़ता है कि अन्य देश के ज्योतिषियों ने सूर्य की गति पर ही ध्यान दिया, उसकी आकृति पर नहीं।

दो बड़े सूर्य-कलंक

यह बारह इंच के रिफ़्लेक्टर टेलिस्कोप द्वारा इंगलैंड में लिया गया एक फ़ोटो है।

दूरदर्शक के आविष्कार के बाद स्वभावतः लोग सूर्य को भी इस यंत्र द्वारा देखने लगे। दूरदर्शक के आविष्कारक गैलीलियो ने स्वयं सूर्य-कलंकों को देखा। फ़ैब्रीसियस और शाइनर को भी इन कलंकों का स्वतंत्र रूप से पता पाने का श्रेय है। अंधविश्वास की एक रोचक परंतु सच्ची कहानी इस संबंध में प्रसिद्ध है। शाइनर पादरी था। जब उसने सूर्य-कलंकों को देखा तो उसने बड़े पादरी को भी यह समाचार सुनाया, परंतु बड़े पादरी ने उसे फटकार दिया। कहा कि 'मैंने प्राचीन पुस्तकों को आदि से अंत तक कई बार पढ़ डाला है और यह निश्चय है कि उनमें कहीं भी सूर्य-कलंकों की चर्चा नहीं की गई; निश्चय ही जिसको तुम सूर्य-कलंक बतलाते हो, वह तुम्हारे ऐनक की त्रुटि होगी या तुम्हारी आँखों का दोष होगा।'

विस्तार आदि

ऊपर बतलाया जा चुका है कि चंद्र-कलंक के समान सूर्य-कलंक स्थायी नहीं होते। वे बदलते रहते हैं। नये उत्पन्न हुआ करते हैं और पुराने मिटते रहते हैं। बड़े कलंक वस्तुतः इतने बड़े होते हैं कि उन पर बीस-पचीस पृथ्वियाँ बिछा दी जा सकती हैं। यदि सूर्य-कलंक गड्ढे हैं, जैसा संभवतः वे कभी-कभी होते हैं, तो एक-एक कलंक में सैकड़ों पृथ्वियाँ समा जा सकेंगी!

यदि सूर्य को प्रति दिन देखा जाय, तो इन कलंकों के स्थिति-

उपरोक्त बातों से स्पष्ट पता चलता है कि सूर्य ठोस नहीं है। यदि सूर्य ठोस होता और उसमें कहीं-कहीं धब्बे होते, तो वे सदा एक ही स्थान पर रहते, उनके आकार में परिवर्तन न होता और उनका भ्रमणकाल सदा समान रहता।

स्वरूप

सूर्य-कलंकों का स्वरूप भी कुछ निश्चित नहीं है, परंतु बड़े और अधिक दिन तक टिकनेवाले कलंक प्रायः गोल होते हैं। बड़े दूरदर्शक से देखने पर सभी कलंकों में दो भाग स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं; एक बीच का भाग, जो अधिक काला होता है; दूसरा बाहर का भाग, जो इस बीच के भाग को घेरे रहता है और कुछ कम काला होता है।

परिवर्तन से शीघ्र पता चल जाता है कि सूर्य किसी अक्ष पर उसी प्रकार नाच रहा है, जैसे पृथ्वी। कलंक हमें पूर्व से पश्चिम की ओर चलते दिखलाई पड़ते हैं और इस दिशा में वे लगभग सवा सत्ताइस दिन में एक बार चक्कर लगा लेते हैं। परंतु विचित्र बात यह है कि मध्य रेखा के पासवाले कलंक शीघ्र चलते हैं। यहाँ कलंक केवल साढ़े चौबीस या पचीस दिन में ही एक चक्कर लगा लेते हैं। ज्यों-ज्यों हम सूर्य के उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों वहाँ के कलंकों की गति मंद पड़ जाती है। इस संबंध में एक विचित्र बात यह भी है कि कलंक मध्य-रेखा से हटकर केवल ५ से ४० अंश तक के ही प्रदेशों में अधिक बनते हैं। ध्रुवों के पासवाले स्थानों में कलंक कभी नहीं दिखलाई पड़ते। परंतु इन प्रदेशों में सूर्य का भ्रमणकाल सूर्यबिम्ब के अन्य चिह्नों से स्थिर किया जा सकता है। पता लगा है कि ध्रुव के पासवाले भागों के एक बार घूमने में लगभग चौंतीस दिन लगते हैं। मध्य-रेखा से एक ही दूरी पर स्थित कलंकों का भी भ्रमणकाल पूर्णतया निश्चित नहीं है—इनमें से कुछ तनिक शीघ्र गति से चलते हैं, कुछ ज़रा धीरे।
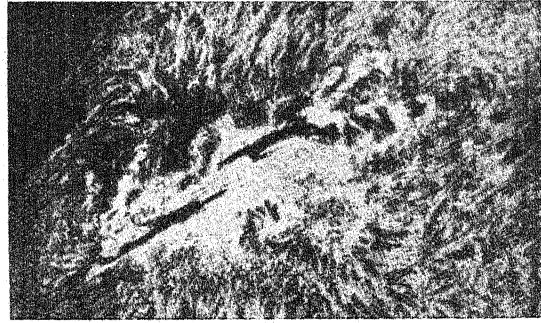
एक ही कलंक के विविध रूप
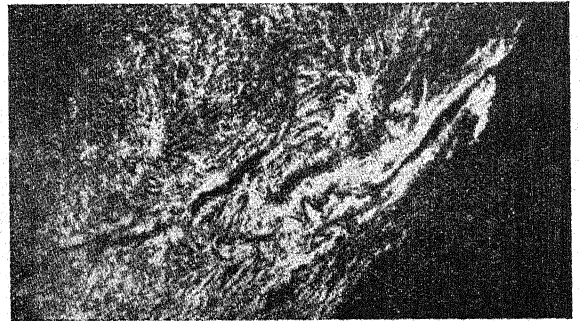
ये एक विशाल कलंक के थोड़ी-थोड़ी देर से एक के बाद एक लिये गये चार फ़ोटो हैं। चौथे फ़ोटो में वह कलंक-रूपी बवण्डर क्रमशः हटते-हटते सूर्य के पृष्ठ के किनारे आ पहुँचा है और शीघ्र ही लुप्त हो जानेवाला है। इन चित्रों से स्पष्ट है कि सूर्य-कलंक एक प्रकार का बवंडर होता है। [फ़ोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला, केलिफ़ोर्निया'।]

बीच के काले भाग को "परिच्छाया" और बाहरवाले कम काले भाग को "उपच्छाया" कहा जाता है, यद्यपि इनका किसी प्रकार की छाया से संबंध नहीं रहता। परिच्छाया काले मखमल के समान काला दिखलाई पड़ता है। बाहरी और कम काले उपच्छाया में बहुत-सी रेखाएँ दिखलाई पड़ती हैं। इनकी दिशा परिच्छाया की ओर होती है। जहाँ परिच्छाया और उपच्छाया मिलते हैं, वहाँ ये रेखाएँ उघड़ी हुई-सी दिखलाई पड़ती हैं। परिच्छाया हमें काला केवल इसीलिए जान पड़ता है कि सूर्य के अन्य भाग इससे कहीं अधिक चमकीले हैं। वास्तव में यह स्वयं इतना चमकीला होता है कि इसके सामने सबसे तेज़ कृत्रिम प्रकाशवाला बिजली का आर्कलैंप भी काला जान पड़ेगा।

प्रायः कलंक समूहों में विभाजित दिखलाई पड़ते हैं। बहुत बार दो छोटे-छोटे कलंक एक साथ दिखलाई पड़ते हैं, जो बढ़ते जाते हैं और एक दूसरे से हटते जाते हैं। कभी-कभी इनके एक दूसरे से हटने का वेग ८,००० मील प्रति दिन तक पहुँच जाता है। इन दोनों के बीच छोटे-छोटे अन्य कलंक उत्पन्न हो जाते हैं, जो बहुत दिनों तक नहीं ठहरते, परंतु कभी-कभी इन बीचवाले कलंकों की संख्या बढ़ती ही जाती है।

कभी-कभी सूर्य-कलंक स्पष्ट गड्ढे जान पड़ते हैं, क्योंकि सूर्य के घूमने के कारण जब वे हमें तिरछी दिशा से दिखलाई पड़ते हैं, तो उनकी आकृति गड्ढे की-सी रहती है। परंतु कुछ कलंक उभरे हुए भी जान पड़ते हैं। साधारणतः वे न तो उभरे हुए और न धँसे हुए दिखलाई पड़ते हैं।

कलंक एक-दो दिन से लेकर कई महीनों तक टिकते
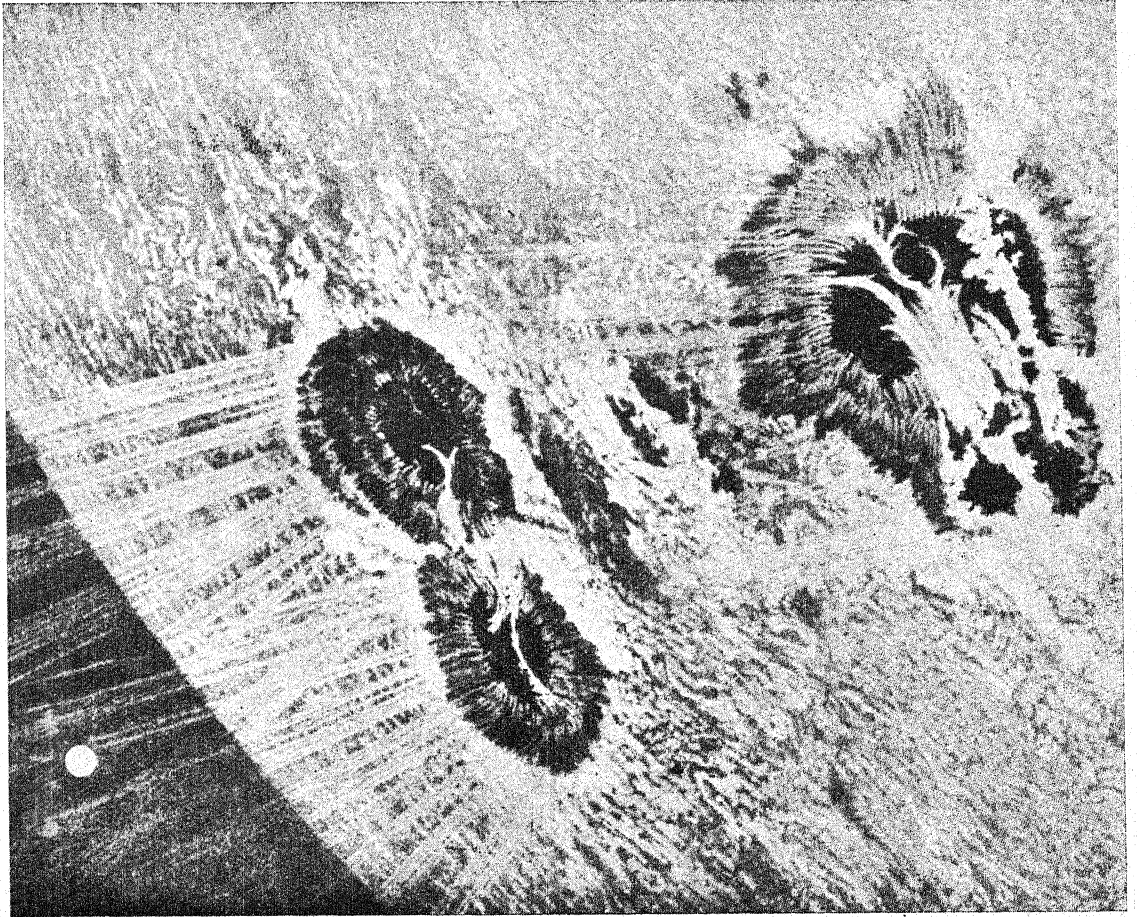
सूर्य के पृष्ठ पर उठते हुए बवण्डरों का एक कल्पना-चित्र

बाईं ओर के कोने में नीचे सफ़ेद गेंद-जैसी वस्तु पृथ्वी है। इसकी आकृति की तुलना सूर्य के पृष्ठ-भाग पर दिखाई दे रहे काले कलंकों या बवण्डरों की आकृति से कीजिए, तब आप अनुमान कर सकेंगे कि इनका विस्तार कितना अधिक होता होगा!

हुए देखे गये हैं। एक बार एक कलंक १८ महीने तक दिखलाई पड़ता रहा, परंतु अधिकांश कलंक कुछ सप्ताह तक ही टिकते हैं और अंत में मिट जाते हैं। मिटने का कारण साधारणतः यही होता है कि ऊपर आसपास का चमकीला पदार्थ चढ़ आता है।

अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं लगा है कि सूर्य-कलंक वस्तुतः हैं क्या। परंतु आधुनिक सिद्धांत यह है कि ये तुरहीनुमा भँवर या बवंडर हैं, जिनमें से भीतर की गैसें चक्कर मारती हुई ऊपर और बाहर निकलती हैं। यदि तुम इस प्रकार के भँवरों को पानी पर देखना चाहते हो तो दफ़्ती या पतली लकड़ी का आठ-दस इंच व्यास का एक वृत्त काट लो। किसी तालाब के स्थिर जल में लकड़ी को आधी डुबा दो और इसको इसी प्रकार आधी डुबी हुई और खड़ी स्थिति में रखते हुए ज़ोर से पीछे खींचकर पानी के बाहर निकाल लो। तुम देखोगे कि इस प्रकार पानी पर दो भँवर बन जाते हैं। असली बात यह है कि लकड़ी के खींचने पर लकड़ी की कोर के कारण पानी में भँवर की अर्धगोलाकार रेखा बन जाती है। इसके दोनों सिरे ही तुमको पानी पर दिखलाई पड़ते हैं। ये सिरे तुरही के आकार के होते हैं। तुम देखोगे कि यदि एक में पानी घड़ी की सुइयों की दिशा में चक्कर लगाता है, तो दूसरे में इसकी विपरीत दिशा में। सूर्य कलंक भी कई बातों में ठीक इन्हीं भँवरों के समान होते हैं। यदि उपयुक्त यंत्रों द्वारा सूर्य के प्रकाश से अन्य अवयव निकाल दिये जायँ और केवल हाइड्रोजन गैस से आये हुए प्रकाश से सूर्य का फ़ोटो खींचा जाय, तो सूर्य पर के हाइड्रोजन के बादलों का बड़ा सुंदर चित्र खिंच आता है। इन चित्रों में सूर्य-कलंकों की भँवर-सरीखी बनावट स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। यह भी दिखलाई पड़ता है कि दो पासवाले कलंकों का पदार्थ विपरीत दिशाओं में चक्कर लगाता है। थोड़ी-थोड़ी देर पर कई फ़ोटो खींचने पर कलंकों में आस-पास से बादल खिंच आते हुए भी देखे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि सूर्य-कलंक भँवर हैं।

सूर्य-कलंक और श्वेत कण

यह एक सूर्य-कलंक और उसके आस-पास के पृष्ठ पर बिखरे हुए चावल जैसे श्वेत कणों का चित्र है। इसमे 'परिच्छाया' और 'उपच्छाया' स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। (देखो पृष्ठ २६२)
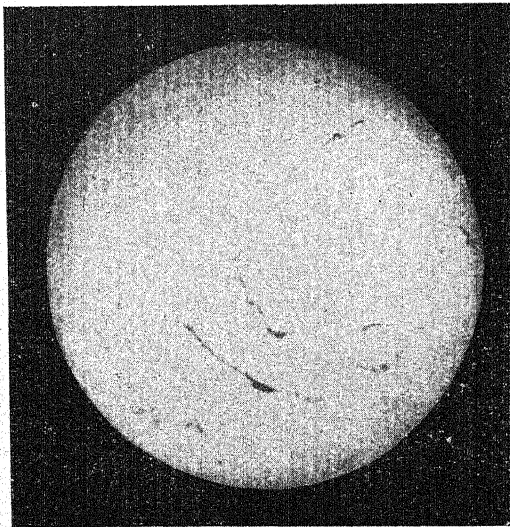
हाइड्रोजन-प्रकाश द्वारा लिया गया सूर्य का एक फ़ोटो

[फ़ोटो—'कोदईकैनाल वेधशाला' की कृपा से]
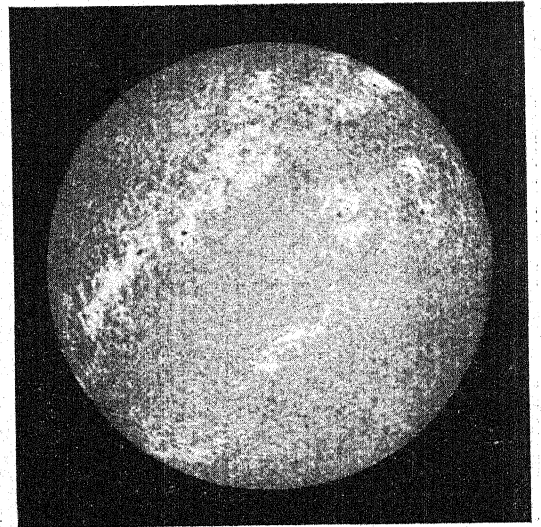
कैल्शियम-प्रकाश द्वारा लिया गया सूर्य का फ़ोटो

[फ़ोटो—'कोदईकैनाल वेधशाला' की कृपा से]
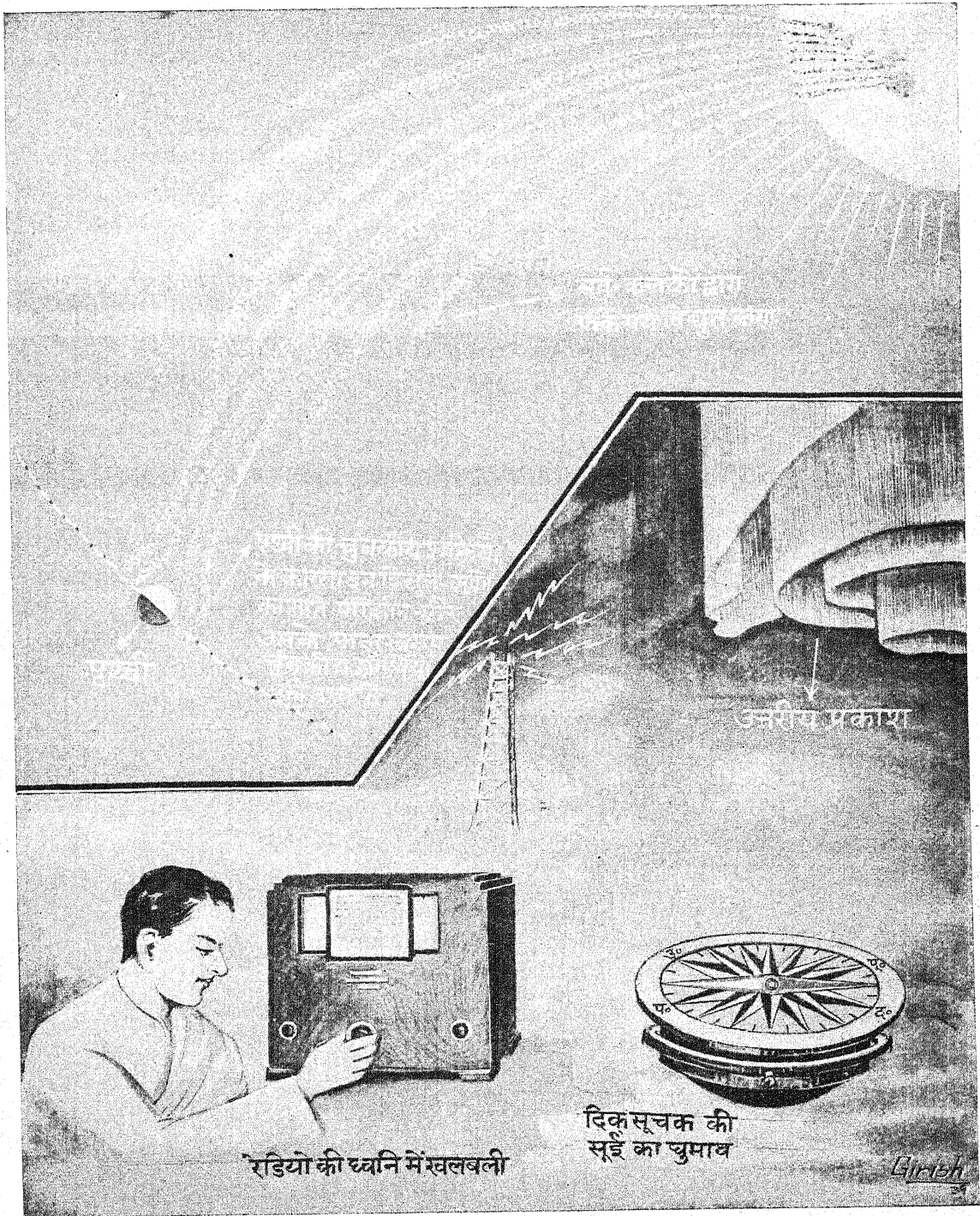
सूर्य-कलंकों का पृथ्वी पर प्रभाव—चुंबकीय आँधियों की उत्पत्ति

वैज्ञानिकों का सबसे आधुनिक मत यह है कि सूर्य-कलंक सूर्य के पृष्ठ पर उठनेवाले भीषण बवंडर हैं, और उनका पृथ्वी की चुंबकीय क्रियाओं या घटनाओं पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। यह देखा गया है कि जब कभी सूर्य पर कोई बड़ा कलंक-समूह दिखाई पड़ता है, उस समय पृथ्वी पर बड़े ज़ोरों से आकाश में उत्तरीय और दक्षिणीय प्रकाश दिखाई पड़ते हैं, दिक्सूचक या कुतुबनुमा की सुई की दिशा में भी कुछ परिवर्तन होने लगता है और रेडियो, वायरलेस आदि की आवाज़ में भी गड़बड़ी होने लगती है। (दे० पृष्ठ २६३)

प्रकाश-मंडल

सूर्य के पृष्ठ पर कलंक ही सर्व-प्रथम हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, परंतु यदि ध्यान से देखा जाय, तो अन्य रोचक बातें भी दिखलाई पड़ती हैं। बड़े दूरदर्शक से देखने पर सूर्य का श्वेत भाग भी सर्वत्र एक-रूप श्वेत नहीं दिखलाई पड़ता। इसमें छोटे-छोटे अनेक अत्यंत चमकीले कण दिखलाई पड़ते हैं। ऐसा जान पड़ता है जैसे मटमैले कपड़े पर सफ़ेद चावल बिखरा हुआ हो। अनुमान किया जाता है कि मटमैली ज़मीन की अपेक्षा ये चावल के दाने बीस गुने अधिक चमकीले होंगे। इनका व्यास ४०० मील से लेकर १२०० मील तक होता है। कभी-कभी छोटे दाने भी दिखलाई देते हैं, जिनका व्यास १०० मील से अधिक न होता होगा। ये दाने हमको साधारणतः गोल या दीर्घ वृत्ताकार दिखलाई पड़ते हैं और कई दाने सिमटकर बड़े दाने भी बन जाया करते हैं। इन दानों का जीवनकाल बहुत कम होता है। कुछ दो-चार मिनट ठहर भी जाते हैं, परंतु अधिकांश आधे मिनट भी नहीं टिकते। इन सब की गति इधर-उधर प्रत्येक दिशा में हुआ करती है। कोई-कोई तो प्रायः स्थिर ही रहते हैं। ऊँचे हवाई जहाज़ से जिस प्रकार आँधी से मथा हुआ समुद्र दिखलाई पड़ता है, ठीक वैसे ही, परंतु बहुत बड़े पैमाने पर, ये दाने भी दिखलाई पड़ते हैं।

सूर्य का बिम्ब हमको किनारे की ओर कम चमकीला दिखलाई पड़ता है। इससे स्पष्ट पता चलता है कि सूर्य पर कोई वायुमंडल है। किनारे के भागों से जो प्रकाश-रश्मियाँ हमारी आँखों तक पहुँचती हैं, उनको इस वायुमंडल में तिरछी दिशा में चलना पड़ता है। इसलिए उनकी चमक कुछ कम हो जाती है। यदि सूर्य पर किसी प्रकार का वायुमंडल न होता, तो अवश्य ही सूर्य-बिम्ब के केंद्र और किनारे हमको एक-समान चमकीले दिखलाई पड़ते। हम इस वायुमंडल को प्रति दिन तो नहीं देख सकते, परंतु सर्व सूर्य-ग्रहणों के अवसर पर, जब सूर्य स्वयं चंद्रमा के पीछे छिप जाता है, हम इसे देख सकते हैं।

सूर्य के चमकीले भाग को, जिस पर हमें कलंक और चावल के दाने के समान चमकीले कण दिखलाई पड़ते हैं, 'प्रकाश-मंडल' या 'फ़ोटोस्फ़ियर' कहते हैं। इसके ऊपर वर्ण-मंडल आदि हैं, जिनका ब्योरा आगे दिया जायगा।

ग्यारहवर्षीय चक्र

जर्मन ज्योतिषी श्वाबे को सन् १८३२ के लगभग पता चला कि सूर्य-कलंकों के घटने-बढ़ने में भी नियम है। ग्यारह वर्ष में एक बार सूर्य-कलंकों की संख्या और क्षेत्रफल बढ़कर महत्तम तक पहुँचते हैं और एक बार घटकर लघुतम तक पहुँचते हैं। प्रत्येक ग्यारह वर्ष के काल में एक ही प्रकार से घटना-बढ़ना लगा रहता है। श्वाबे दवा बेचता था, परंतु ज्योतिष के प्रेम के कारण उसने अपनी दूकान बेच दी, जिसमें निश्चिन्त होकर सूर्य का अध्ययन कर सके।

श्वाबे के आविष्कार के कुछ ही वर्षों बाद इंगलैंड में प्रति दिन सूर्य के फ़ोटो लेने की योजना हुई। इस अभिप्राय से कि बादलों के कारण कोई दिन नागा न चला जाय, मद्रास के पास स्थित सरकारी 'कोदईकैनाल वेधशाला' और दक्षिण अफ्रीका की सरकारी 'केप आफ़ गुड होप वेधशाला' में भी प्रति दिन सूर्य के फ़ोटो लिये जाते हैं। इन सब फ़ोटोग्राफ़ों में सूर्य का चित्र एक ही नाप का अर्थात् ८ इंच व्यास का लिया जाता है, जिसमें तुलना में कोई असुविधा न हो। उपरोक्त वेधशालाओं के अतिरिक्त, फ़ान्स और अमरीका की कुछ वेधशालाओं में भी सूर्य-संबंधी खोज बराबर की जाती है।

पता चला है कि कलंकों के घटने-बढ़ने का चक्र-काल नियमित रूप से ग्यारह वर्ष नहीं है। कभी एक चक्र में केवल सात ही वर्ष लगता है, कभी सत्रह वर्ष तक का समय लग जाता है। फिर प्रत्येक बार यह देखा गया है कि कलंकों की संख्या और क्षेत्रफल शीघ्र (लगभग साढ़े चार वर्ष में) बढ़कर धीरे-धीरे (लगभग साढ़े छः वर्ष में) घटते हैं। अभी तक इस बात का पता नहीं चल सका है कि क्यों इस प्रकार कलंक घटते-बढ़ते रहते हैं।

सूर्य-कलंक और सांसारिक घटनाएँ

समाचार-पत्रों में प्रायः भविष्यद्वाणियाँ छपा करती हैं, जिनका आधार सूर्य-कलंक बतलाये जाते हैं, जैसे भविष्य में खूब आँधी-पानी आयेगा, या अन्य दुर्घटना होगी, क्योंकि कलंकों की संख्या बढ़ रही है। क्या ऐसी भविष्यद्वाणियाँ सची होती हैं? क्या सूर्य-कलंकों और सांसारिक घटनाओं में वस्तुतः कोई संबंध है? इस पर अमरीका के सूर्य-संबंधी विशेषज्ञ प्रो० मिचेल की उनकी 'सूर्य-ग्रहण' पुस्तक में ज़ोरदार भाषा में लिखी निम्न सम्मति जानने योग्य है:—

"कई बार वास्तविक चेष्टा की गई है कि सूर्य-कलंक और अन्य घटनाओं के बीच, चाहे वे सूर्य-संबंधी हों, चाहे पृथ्वी-संबंधी, नाता जोड़ा जाय। सूर्य-संबंधी घटनाओं से जो नाते जोड़े गये हैं, उनकी नींव अधिकतर पक्की है, परंतु पृथ्वी-संबंधी नाते प्रायः बिल्कुल काल्पनिक जान पड़ते हैं। यदि संयुक्त राष्ट्र (अमरीका) के किसी एक स्थान, जैसे लुई में, साधारण से अधिक गरमी पड़ती है, × × × × और उसी समय यदि संयोगवश सूर्य पर एक बड़ा-सा कलंक-

समूह हो, तो कोई ज्योतिषी, प्रायः कोई छद्म-ज्योतिषी, अवश्य मिल जाता है, जो दैनिक समाचार-पत्रों को सूचित करता है कि ये सूर्य-कलंक ही गरमी (या सरदी) का कारण हैं। भारतवर्ष के दुर्भिक्ष, आयर्लैंड की आलू की फ़सल, इंगलैंड में बाज़ार की दर, मौरिशस द्वीप की जल-वर्षा, और न्यूयार्क की कंपनियों का हानि-लाभ, इन सब की जाँच गणित से की गई है और इनमें से प्रत्येक के विषय में सिद्ध किया गया है कि उनका भी उतार-चढ़ाव ग्यारह वर्ष में होता है और इसलिए उनका भी संबंध सूर्य-कलंकों से अवश्य है। कई बार कहा गया है कि 'अंक झूठ नहीं बोलते'। यह बिल्कुल सत्य है कि अंक स्वयं झूठी बातें नहीं बतलाते परंतु इन अंकों पर जो अर्थ मढ़े जाते हैं, वे अनेक और भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रत्येक बड़े कारबार का मैनेजर अच्छी तरह जानता है कि यदि उसकी कंपनी में दो वर्षों में एक-सा लाभ हो, तो भी उसके लिए यह अत्यंत सरल है कि एक वर्ष वह लाभ बतलाकर हिस्सेदारों को पूरा-पूरा व्याज दे और दूसरे वर्ष के लाभ को कारबार में उन्नति करने या कार्यालय की वृद्धि करने के खाते में डालकर लाभ कम दिखला दे या घाटा दिखलाकर व्याज एक पैसा भी न दे। × × × × यह पूर्णतया संभव है, संभव ही नहीं, कदाचित् सत्य भी है, कि जल-वायु और वृष्टि का संबंध सूर्य के तेज से (जिसका पता कलंकों से लगता है) है; और हो सकता है कि अन्य विषय भी कलंकों से संबंध रखते हों—परंतु इस संबंध को प्रमाणित कर देना टेढ़ी खीर है। सरदी, गरमी, या वर्षा अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न कारणों पर निर्भर हैं और इसलिए उन सब कारणों से, जो जल-वायु पर प्रभाव डालते हैं, सूर्य के परिणाम को पृथक् करना कठिन और प्रायः असंभव है।"

सूर्य-कलंक और चुम्बकीय आँधियों के ग्यारह वर्षीय उतार-चढ़ाव की समानता का मानचित्र

चुंबक-संबंधी विषयों पर कलंकों का प्रभाव

पृथ्वी की कुछ घटनाओं पर सूर्य-कलंकों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इनमें से एक तो चुंबक की दिशा है। सभी जानते हैं कि यदि किसी चुंबक को इस प्रकार रक्खा जाय कि वह क्षैतिज धरातल में स्वतंत्रता से घूम सके, तो वह घूमकर उत्तर-दक्षिण दिशा में हो जायगा। दिक्सूचक (क़ुतुबनुमा) का बनाना इसीलिए संभव है। परंतु सूक्ष्म जाँच से पता चलता है कि चुंबकीय सुई की दिशा कभी-कभी अनियमित रीति से बदलने लगती है। दिशा में अंतर अधिक नहीं पड़ता, तो भी नापने योग्य पड़ता है। ऐसी दशा में कहा जाता है कि 'चुंबकीय आँधी' चल रही है। इसमें अब संदेह नहीं है कि चुंबकीय आँधियों का संबंध सूर्य-कलंकों से है। ऐसी आँधियाँ उस समय अधिक चलती हैं, जब सूर्य पर अनेक कलंक बनते रहते हैं।

उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के पास रात्रि के समय आकाश में एक विचित्र रंगीन प्रकाश दिखलाई पड़ता है, जो सदा नाचा करता है, रूप बदलता रहता है और बहुत सुंदर जान पड़ता है। उत्तर में दिखलाई पड़नेवाले प्रकाश को 'उत्तरीय प्रकाश' और दक्षिण में दिखलाई पड़नेवाले प्रकाश को 'दक्षिणी प्रकाश' कहते हैं। चुंबकीय आँधियों के समय ये प्रकाश बहुत बढ़ जाते हैं। १९२१ में १३ मई को सूर्य के केंद्र के पास कई कलंक थे। इनके कारण ये प्रकाश इतने प्रबल हो उठे कि वे प्रायः सारी पृथ्वी पर दिखलाई पड़े। उस समय तार भेजना कठिन हो गया, क्योंकि इन तारों पर आकाशीय बिजली का बहुत प्रभाव पड़ा। जिस समय प्रकाश महत्तम तीव्रता पर था, उस समय समुद्र के नीचे-नीचे जानेवाला अमरीका और योरपवाला एक तार जल गया।

पहले बतलाया जा चुका है कि वृक्षों को काटकर जाँच करने से उनकी आयु का पता चलता है, क्योंकि उनके तनों में परतें पड़ी रहती हैं। प्रत्येक परत एक वर्ष की वृद्धि सूचित करती है। इनकी जाँच करने से अनुमान किया जाता है कि गत ढाई हज़ार वर्षों में भी सूर्य-कलंकों का ग्यारह-वर्षीय चक्र आज ही की तरह चला करता था।
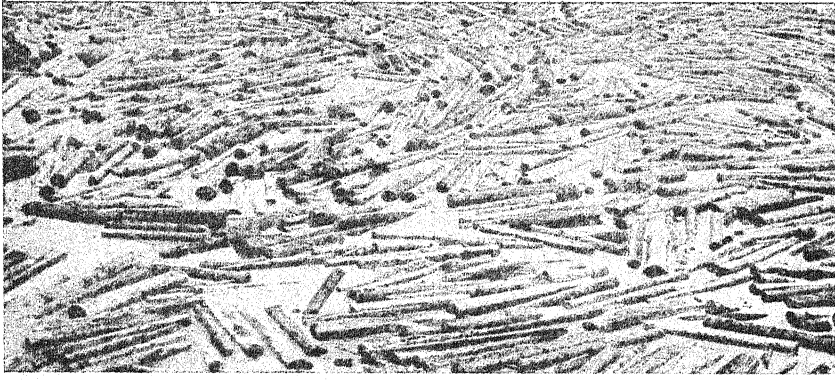
नदी पर तैरते हुए लट्ठे

लकड़ी का घनत्व पानी से कम है। यही कारण है कि हम हजारों बड़े-बड़े लट्ठों को यहाँ नदी में तैरते हुए देख रहे हैं। कनाडा, नारवे, बर्मा आदि देशों में पहाड़ों से लकड़ी की शहतीरें काट-काटकर इसी प्रकार नदियों द्वारा बहा-कर मैदानों के शहरों में बिना परिश्रम पहुँचा दी जाती हैं।

तैरता हुआ बर्फ़ का पहाड़

पानी जब बर्फ़ में परिणत हो जाता है, तब उसका घनत्व कम हो जाता है। यही कारण है कि मीलों लंबे और हजारों फ़ीट ऊँचे बर्फ़ के पहाड़ (Icebergs) इस प्रकार समुद्र में तैरते रहते हैं। इन पहाड़ों का केवल दसवाँ भाग बाहर दिखाई देता है, शेष जल में रहता है।
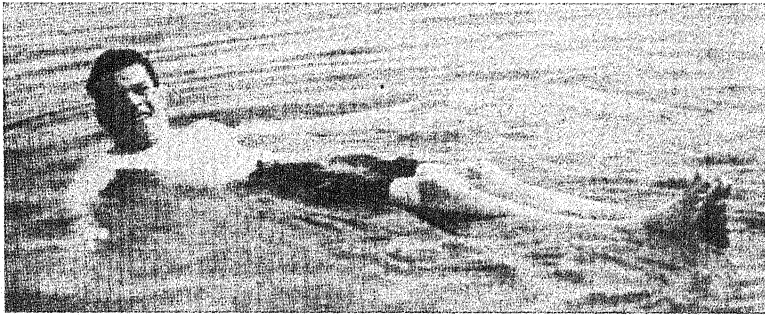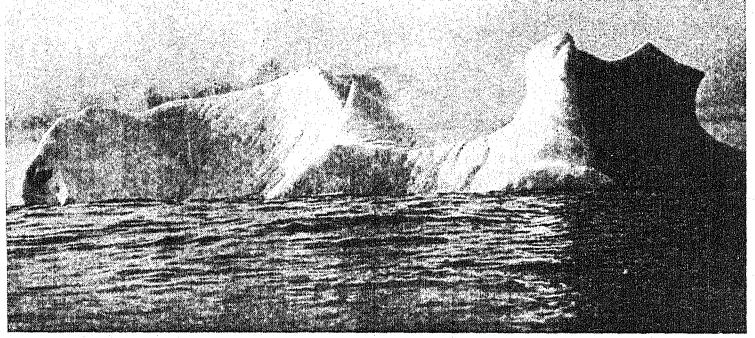
मृतसागर (Dead Sea) में तैरता हुआ आदमी

पैलेस्टाइन के 'मृत सागर' के पानी का घनत्व, बहुत अधिक नमक की मिलावट के कारण, इतना अधिक है कि मनुष्य का शरीर उसमें जल्दी डूबता नहीं। भारी से भारी बदनवाला आदमी भी उसमें बिना प्रयास तैरता रहता है।

हवा में उड़ता हुआ वायुपोत

हाइड्रोजन नामक गैस का घनत्व साधारण हवा से इतना अधिक कम होता है कि उससे भरे जाने पर सैकड़ों टन वजन के बड़े-बड़े वायुपोत बिना किसी यंत्र की सहायता के आकाश में ऊँचे उठकर उड़ सकते हैं। यह घनत्व की असमानता ही की करामात है। यह 'हिंडनबर्ग' नामक प्रसिद्ध जर्मन वायुपोत का चित्र है, जो जलकर नष्ट हो गया था।
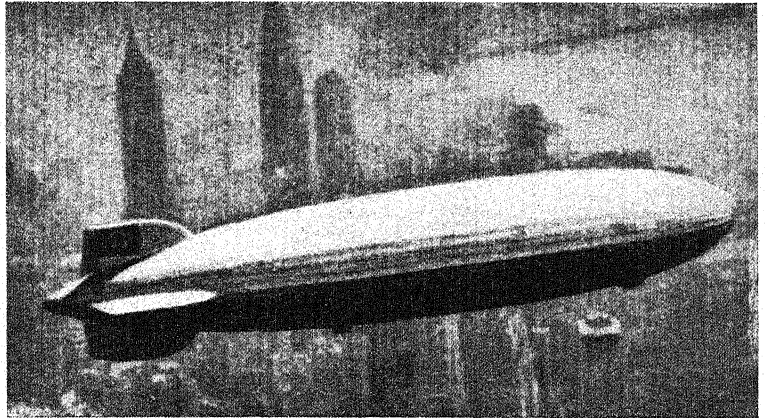
असम घनत्व के कुछ विशिष्ट उदाहरण (दे० पृष्ठ २६५-२६६)

घनत्व और भार

प्रत्येक पदार्थ का कुछ-न-कुछ आयतन और वज़न अवश्य होता है, और किसी भी वस्तु विशेष के आयतन की कमी-बेशी के अनुपात में उसके वज़न में भी कमी-बेशी हो जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि समान आयतनवाली दो वस्तुओं का वज़न भी समान ही हो। इसका क्या कारण है ? एक घनफ़ीट लकड़ी का वज़न एक घनफ़ीट लोहे जितना क्यों नहीं होता ? इस प्रकरण में इसी का विवेचन किया गया है।

हमने देखा है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को पृथ्वी भिन्न-भिन्न परिमाण में अपनी ओर खींचती है। जिस वस्तु में पदार्थ की मात्रा अधिक होती है, उसके लिए पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति भी बढ़ जाती है। ऐसे पदार्थों का वज़न ज़्यादा होता है। समान आकार के दो टुकड़े लीजिये, एक लकड़ी का, दूसरा लोहे का। लोहे का टुकड़ा भारी जँचता है। निस्संदेह लोहे के अन्दर पदार्थ की मात्रा लकड़ी की अपेक्षा अधिक है—लोहे के अन्दर के पदार्थ-कण मानो कसकर घने बिठलाये गये हैं। किंतु लकड़ी के अन्दर का पदार्थ उतना घना नहीं है। दूसरे शब्दों में लोहे का 'घनत्व' लकड़ी के 'घनत्व' से ज़्यादा है। किसी वस्तु के एक नियत आयतन में पदार्थ की मात्रा कितनी है, इसे विज्ञान की परिमार्जित भाषा में 'घनत्व' कहते हैं।

किन्तु हम देख चुके हैं कि पदार्थ की मात्रा के अनुपात में ही वस्तुओं का भार भी होता है, अतः हम यह भी कह सकते हैं कि किसी वस्तु का घनत्व उस वस्तु के एक नियत आयतन का भार है।

आयतन की नाप ब्रिटिश-प्रणाली में हम घनफ़ुट से करते हैं, तथा भार या वज़न की नाप पाउण्ड से। सुविधा के लिए आयतन के लिए १ घनफ़ुट लेते हैं, और तब उसका वज़न पाउण्ड में निकालते हैं। एक घनफ़ुट लोहे का वज़न लगभग ४६० पाउण्ड होता है, अतः लोहे का घनत्व ४६० पाउण्ड प्रति घनफ़ुट हुआ। फ़्रेञ्च प्रणाली में आयतन की नाप 'घन-सेन्टीमीटर' और वज़न की नाप 'ग्राम' से करते हैं। एक घन-सेन्टीमीटर लोहे का वज़न ७·२ ग्राम होता है। इस तरह लोहे का घनत्व ७·२ ग्राम प्रति घन-सेन्टीमीटर हुआ।

अर्कमिदीज़ (२८७—२१२ ई० पू०)
जिसने सर्वप्रथम 'आपेक्षिक घनत्व' सम्बन्धी सिद्धान्त का अनुसंधान और प्रतिपादन किया था।

वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में हम वास्तव में किसी धातु का ठीक एक घनफ़ुट या एक घन-सेन्टीमीटर आयतन नहीं लेते, वरन् समूची वस्तु का आयतन पहले मालूम कर लेते हैं। फिर उसे तौलकर मालूम करते हैं कि प्रति घन-सेन्टीमीटर उस वस्तु का भार कितने ग्राम हुआ या प्रति घनफ़ुट उस वस्तु में कितने पाउण्ड हैं।

घनत्व प्रकट करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भार और आयतन की नाप भी लिखी जाय, अन्यथा बड़ी गड़बड़ी की सम्भावना हो सकती है। उदाहरण के लिए पाउण्ड और घनफ़ुट में लोहे का घनत्व ४६० निकलता है, तो ग्राम और घन-सेन्टीमीटर का प्रयोग करने पर उस अनुपात में उसका घनत्व केवल ७·२ आता है।

घनत्व की जानकारी की आवश्यकता आए दिन पड़ा करती है। पानी पर एक चीज़ तैरती है, तो दूसरी उसमें डूब जाती

है। इसका मूल कारण उनका घनत्व है। गर्म पानी का घनत्व ठंढे पानी से कम होता है, अतः जब गर्म पानी हौज़ में डाला जाता है, तो यह ऊपर ही रह जाता है, किन्तु यदि उसमें ठंढा पानी डाला जाय, तो वह एकदम पेंदे तक पहुँच जाता है। तेल पानी से भी हलका है, वह पानी के ऊपर तैरता है। गैसों का घनत्व बहुत ही कम होता है, फिर भी विभिन्न गैसों के घनत्व में अन्तर है। हाइड्रोजन सब गैसों से हलकी है। गुब्बारे और ज़ैप्लीन में हाइड्रोजन ही भरी रहती है। इसी कारण ये आकाश में उड़ सकते हैं। लोहे की कील पानी में डूब जाती है, किन्तु लोहे का ही बना पोत बड़े-बड़े पुलों का बोझा लिये तैरा करता है। यह सब घनत्व की ही करामात है।

नित्य के काम के लिए हमें भिन्न-भिन्न वस्तुओं के घनत्व की तुलना करने की भी आवश्यकता होती है। रुपया पानी में डूब जाता है, किन्तु पारे के हौज़ में वह आसानी से तैरता रहता है; क्योंकि चाँदी का घनत्व पानी के घनत्व से तो ज़्यादा, किन्तु पारे के घनत्व से कम है।

तुलना के लिए हम पानी की शरण लेते हैं; क्योंकि पानी सब कहीं मिल सकता है और अधिकांश ठोस तथा द्रव पदार्थों के घनत्व से पानी का घनत्व कम है। एक और बात यह है कि पानी का घनत्व फ्रेञ्च प्रणाली में १ ग्राम प्रति घन-सेन्टीमीटर होता है। अतः घनत्व की तुलना के लिए पानी का घनत्व इकाई का काम देता है। पानी के घनत्व से अन्य पदार्थों का घनत्व कितने गुना ज़्यादा या कम है, इस अनुपात को 'आपेक्षिक घनत्व' कहते हैं। अतएव आपेक्षिक घनत्व निरी संख्या होती है। इस संख्या के साथ पाउण्ड प्रति घन फ़ुट या ग्राम प्रति घन-सेन्टीमीटर लिखने की ज़रूरत नहीं; क्योंकि यह संख्या भिन्न-भिन्न चीज़ों के घनत्व के बीच का अनुपात बताती है। यह अनुपात सदैव एक-सा रहेगा, चाहे घनत्व ब्रिटिश प्रणाली से निकाला जाय या फ्रेञ्च (मेट्रिक) प्रणाली से।

किन्तु आपेक्षिक घनत्व सम्बन्धी प्रयोग करने के लिए पानी चुनने में विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है। पानी में प्रायः विजातीय वस्तुएँ घुली रहती हैं, जिसके कारण उसका घनत्व बढ़ जाता है। मृत सागर (Dead Sea) के पानी में नमक इतनी अधिक मात्रा में घुला हुआ है कि उसमें नहानेवाले लोग जल्दी डूबते ही नहीं। वहाँ पानी का घनत्व इतना अधिक रहता है कि मनुष्य का शरीर निष्प्रयास ही उसकी सतह पर तैरा करता है। इसीलिए आपेक्षिक घनत्व के लिए शुद्ध पानी लिया जाता है। फिर घनत्व पर तापक्रम का भी प्रभाव पड़ता है। गर्मी पाकर चीज़ें फैलती हैं, अतः वज़न तो वही रहता है, पर उनका आयतन बढ़ जाता है। इस तरह तापक्रम बढ़ने पर चीज़ों का घनत्व कम हो जाता है। पानी का भी यही हाल है। प्रयोग करने से हम जानते हैं कि पानी का घनत्व सबसे अधिक ४ डिग्री शतांश ताप पर होता है। अतः विभिन्न पदार्थों के घनत्व की तुलना के लिए इसी ताप का पानी लेते हैं। कुछ ठोस और द्रव पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व निम्न प्रकार है—
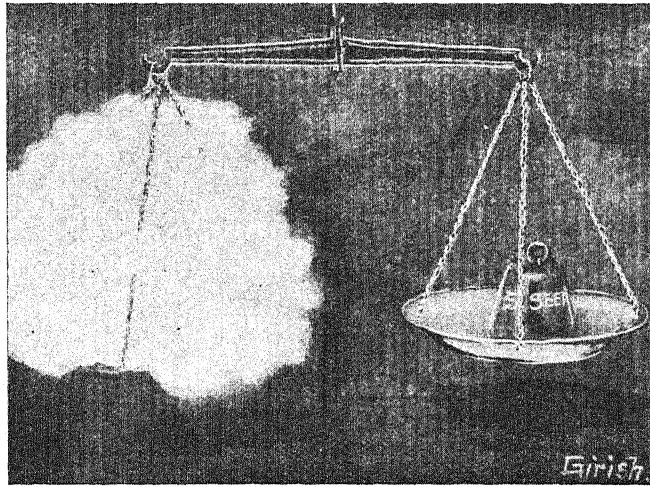
घनत्व से आयतन और भार का संबंध

भिन्न घनत्ववाली दो वस्तुओं को यदि समान वज़न में लिया जाय तो उनका आयतन समान न होगा। इसका सबसे सरल उदाहरण रुई और उतने ही वज़न का लोहे का बटखरा है! समान वज़न के होकर भी घनत्व की असमानता के कारण दोनों के आयतन में कितना अंतर है!

ठोस पदार्थ		द्रव पदार्थ	
प्लैटिनम	२२·०	पारा	१३·६
सोना	१६·३	रुधिर	१·०६
सीसा	११·४	दूध	१·०३
चाँदी	१०·४	समुद्र का जल	१·०२
लोहा	७·२	टर्पेन्टाइन	०·८७
बर्फ़	०·६	अल्कोहॉल	०·७६
कार्क	०·२		

गैसें पानी की अपेक्षा बहुत ही हल्की होती हैं, अतः गैसों के घनत्व की तुलना हवा के घनत्व से करते हैं। हवा के घनत्व को पैमाना मानने पर अन्य गैसों का आपेक्षिक घनत्व निम्न लिखित तालिका के अनुसार आता है—

आक्सिजन	१˙१
नाइट्रोजन	०˙९७
कार्बन डाइआक्साइड	१˙५
अमोनिया गैस	०˙६२
हाइड्रोजन	०˙०६९

ज्यामिति की किसी नियत आकृतिवाले ठोस पदार्थ का आपेक्षिक घनत्व निकालना आसान है, क्योंकि रेखा-गणित के सिद्धान्तों से हम बिना प्रयोग के उसका आयतन निकाल सकते हैं और तराज़ू पर उसका वज़न भी निकाल सकते हैं। फिर उतने ही आयतनवाले पानी का वज़न मालूम करके उस ठोस पदार्थ के वज़न को पानी के वज़न से भाग देकर आपेक्षिक घनत्व की संख्या हम मालूम कर सकते हैं।

किन्तु अनेक वस्तुएँ बेडौल आकार की हुआ करती हैं। ज्यामिति की मदद से उनका आयतन आसानी से नहीं निकाला जा सकता। ऐसी दशा में एक विशेष प्रकार के बड़े गिलास "ग्रेजुएटेड जार" में पानी भर लेते हैं। इस गिलास की दीवाल पर निशान बने हुए होते हैं, जो भीतर का आयतन बताते हैं। तब उस चीज़ को इस पानी में डुबो देते हैं। ऐसा करने से पानी ऊपर चढ़ आता है। अब इस नये आयतन में से पहले का आयतन घटा देने पर उस चीज़ का आयतन निकल आता है। इस सम्बन्ध में एक मनोरञ्जक घटना का उल्लेख हम यहाँ कर देते हैं।

प्रसिद्ध आविष्कारकर्त्ता एडिसन (Edison) ने एक बार एक इञ्जिनियर से पूछा कि अमुक बिजली के बल्ब के भीतर का आयतन कितना है? बेचारा इञ्जिनियर तीन-चार दिन तक बल्ब का आकार नापने और गुणा-भाग करने में लगा रहा। फिर भी वह ठीक आयतन न निकाल पाया। एडिसन ने फ़ौरन् उसके हाथ से बल्ब लिया और उसमें पानी भर दिया। फिर पानी को एक नापने के गिलास में उँडेल दिया, और पानी का आयतन उस गिलास में लगे निशान की मदद से पढ़ लिया।

द्रव पदार्थों का असम घनत्व

यदि एक ही बोतल में पारा, पानी, तेल और अल्कोहॉल भरे जायँ तो अपने-अपने आपेक्षिक घनत्व के अनुसार वे इसी तरह ऊपर-नीचे हो जायँगे।

द्रव पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए अधिकतर घनत्ववाली बोतल का प्रयोग करते हैं। इस प्रयोग में आयतन नापने की ज़रूरत नहीं पड़ती। तराज़ू पर पहले खाली बोतल तौल लेते हैं। फिर दिये हुए द्रव पदार्थ को उसमें मुँहामुँह भरकर तौलते हैं। इस वज़न में से बोतल का वज़न घटा देने से द्रव पदार्थ का वज़न निकल आता है। अब बोतल को खाली करके और पानी से भर कर फिर वज़न लेते हैं। पानी से भरी बोतल में से खाली बोतल का वज़न घटाकर पानी का वज़न मालूम कर लेते हैं। इस तरह समान आयतन-वाले पानी और द्रव दोनों का वज़न मालूम हो गया। इन्हीं का अनुपात हमें आपेक्षिक घनत्व बतलाता है। नन्हें-नन्हें कण या बुकनी वग़ैरह का आपेक्षिक घनत्व भी इस बोतल की सहायता से मालूम किया जा सकता है। पहले बोतल को जल से लबालब भर लो—अब जल से भरी हुई बोतल और उन नन्हें-नन्हें छर्रों को तराज़ू के पलरे पर एक ही साथ रख दो, और उनका वज़न निकाल लो। फिर बोतल को उठाकर मेज़ पर रक्खो, और उन छर्रों को बोतल के भीतर डालो। ठीक छर्रों के आयतन के बराबर ही पानी अब बोतल के बाहर बहकर गिर जायगा। बोतल को अब फिर तौलो। निस्सन्देह पहले की अपेक्षा अब वज़न कम होगा। यह कमी उस पानी के वज़न के बराबर होगी, जिसका आयतन छर्रों के बराबर है। छर्रों का वज़न मालूम ही है, अतः इसका आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए इसके वज़न में समान आयतन-वाले पानी के वज़न से भाग देते हैं।

अर्कमिदीज़ के सिद्धान्त का प्रयोग

इस विशेष प्रकार की तराजू में एक पलरे में बटखरे रक्खे जाते हैं और दूसरे में एक के नीचे दूसरा इस तरह दो धातु-दण्ड लटकते रहते हैं। इनमें से ऊपर का दण्ड 'अ' खोखला होता है और नीचे का 'ब' ठोस। 'ब' का आकार ऐसा होता है कि वह 'अ' में ठीक समा जाय। पहले ये दोनों दण्ड ख़ाली हवा में एक साथ बटखरों से तौल लिये जाते हैं। इसके बाद एक जल-भरे पात्र को नीचे लाकर नीचेवाला दण्ड उसमें पूरा डुबो दिया जाता है। ऐसा करने पर उसका वज़न मानो घट जाता है, क्योंकि पलरा ऊपर उठने लगता है। तब ऊपर के खोखले दण्ड में पानी भरकर फिर तराजू का तौल ठीक किया जाता है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि पानी में डुबाने पर नीचे के दण्ड का जितना वज़न घटा, वह ऊपर के दण्ड में भरे गये पानी अर्थात् डूबी हुई वस्तु के आयतन के बराबर के पानी के वज़न के बराबर था।

किन्तु कुछ अनियमित आकार की नन्हीं वस्तुएँ (जैसे अँगूठी) भी होती हैं, जो न घनत्ववाली बोतल में आ सकती हैं, न नापने के गिलास में ही पानी की सतह को अधिक ऊँचा उठा सकती हैं। इनका आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए अर्कमिदीज़ के सिद्धान्त की सहायता ली जाती है। अर्कमिदीज़ की कहानी भी बड़ी विचित्र है। लगभग २२० ई० पूर्व सीराक्यूज़ के राजा हीरो ने मुकुट बनाने के लिए एक सुनार को सोना दिया। जब मुकुट बनकर आया, तो राजा को सन्देह हुआ कि सुनार ने कुछ सोना चुरा लिया है, और उसकी जगह कोई दूसरी सस्ती धातु मिला दी है। किन्तु मुकुट का वज़न दिये हुए सोने के बराबर ही था। इसलिए चोरी फ़ौरन् न पकड़ी जा सकी। निदान राजा ने अर्कमिदीज़ को यह पता लगाने का भार दिया कि सुनार ने सच-मुच राजा को ठगा है या नहीं। किन्तु साथ-ही-साथ शर्त थी कि मुकुट किसी प्रकार खराब न होने पाये। अर्कमिदीज़ बड़ी देर तक सोचता रहा कि इस टेढ़ी समस्या को कैसे हल करें। दूसरे दिन स्नान करने के लिए तत्कालीन प्याले-नुमा टब में वह उतरा। टब में पानी लबालब भरा हुआ था। जब वह उसमें घुसा तो कुछ पानी फ़र्श पर गिर गया। किन्तु अब भी पानी टब के मुँहामुँह था। जब वह बाहर आया तो पानी की सतह बहुत नीचे चली गयी। फ़ौरन् मानो उसके दिल में प्रेरणा हुई कि ठीक उतना ही पानी टब से बाहर गिरा है, जितना उसके शरीर का आयतन था। साथ ही उसने यह भी देखा कि पानी में घुसते समय उसे ऐसा लगा था, मानो उसे नीचे से ऊपर की ओर कोई उछाल रहा है। पानी में उसका वज़न कुछ हलका पड़ गया था। उसने देखा कि इस नई जानकारी की मदद से तो वह मुकुटवाली समस्या भी हल कर सकता है। बस, ख़ुशी में पागल होकर वह बिना कपड़ा वग़ैरह पहने ही राजा के पास नङ्गा दौड़ा गया! रास्ते भर वह चिल्लाता जा रहा था—"युरेका, युरेका (अर्थात् मैंने जान लिया, मैंने जान लिया)।"
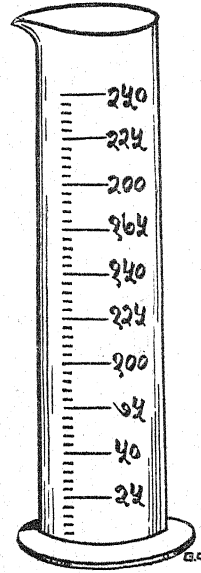
'ग्रेजुएटेड जार' या नापने का गिलास

उसने एक चाँदी की और दूसरी सोने की ईंट बनवाई। दोनों का वज़न ठीक मुकुट के बराबर रक्खा। तब एक चौड़े मुँह के बर्त्तन में उसने लबालब पानी भरा और तीनों को उसमें बारी-बारी से डाला। इस प्रयोग में मुकुट के कारण जितना पानी बाहर गिरा, उसका आयतन चाँदी की ईंट द्वारा स्थानान्तरित हुए पानी के आयतन से तो ज़्यादा था, किन्तु सोने की ईंट द्वारा स्थानान्तरित हुए पानी के आयतन से कम। फ़ौरन् उसने इस बात की घोषणा की कि मुकुट विशुद्ध सोने का नहीं बना है। तदुपरान्त बड़े मनोयोगपूर्वक काम करके उसने सिद्ध किया कि जब किसी ठोस पदार्थ का कुल या थोड़ा-सा हिस्सा

किसी द्रव के अन्दर रहता है, तो उस ठोस पदार्थ का वज़न कम पड़ जाता है। यह कमी उस पदार्थ द्वारा स्थानान्तरित हुए द्रव के वज़न के बराबर होती है। आज यह 'अर्कमिदीज़ के सिद्धान्त' के नाम से पुकारा जाता है।

आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए इसी अर्कमिदीज़ के सिद्धान्त की मदद ली जाती है। पहले उस ठोस पदार्थ को वहीं पलरे पर रखकर तौल लेते हैं। फिर उसे पलरे से धागे द्वारा इस तरह लटकाते हैं कि तौलते समय भी वह पदार्थ बर्त्तन में रक्खे हुए पानी में डूबा रहे। उस पदार्थ के इन दोनों वज़न का अन्तर निकाल लेते हैं। अर्कमिदीज़ के सिद्धान्त के अनुसार यही समान आयतनवाले पानी का वज़न हुआ। इसके बाद पहले की तरह उसका आपेक्षिक घनत्व अनुपात लगाकर मालूम कर लेते हैं।

अर्कमिदीज़ की रीति से ऐसे पदार्थों का भी आपेक्षिक घनत्व हम मालूम कर सकते हैं, जो हलके होने के कारण पानी में डूबते ही नहीं। मान लीजिए, कार्क का आपेक्षिक घनत्व निकालना है। इस प्रयोग में हमें लोहे का एक टुकड़ा लंगर की तरह काम में लाना पड़ता है। पहले लोहे के टुकड़े को हम हवा में और पानी में तौलकर मालूम कर लेते हैं कि पानी के अन्दर इसका वज़न कितना घटता है। अब कार्क और लंगर को एक ही साथ बाँध लेते हैं, और इन दोनों को एक बार हवा में और एक बार पानी के अन्दर तौल लेते हैं। इस तरह यह मालूम कर लेते हैं कि पानी के अन्दर तौलने पर कार्क और लंगर के संयुक्त वज़न में कितनी कमी हुई। कार्क का वज़न हवा में मालूम ही है, अतः उसका आपेक्षिक घनत्व भी हम पूर्ववत् निकाल सकते हैं।

द्रव पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व निकालने की एक सरल रीति भी लभ्य है। 'हाइड्रोमीटर' की सहायता से किसी भी द्रव पदार्थ का आपेक्षिक घनत्व आप आसानी से मालूम कर सकते हैं। यह यंत्र एक शीशे की नली का बना होता है। इसका निचला भाग भारी होता है। पानी या किसी अन्य द्रव पदार्थ में डालने पर यह डूबता नहीं, वरन् इसका कुछ हिस्सा उस द्रव पदार्थ के अन्दर रहता है और कुछ बाहर। इसी हालत में वह उस द्रव में तैरता रहता है। भिन्न-भिन्न घनत्ववाले द्रवों में यह यंत्र भिन्न भिन्न ऊँचाई तक डूबता है। इसमें निशान बने रहते हैं। एक निशान, जो मोटी लकीर का बना होता है, यह सूचित करता है कि यहाँ तक यह यंत्र पानी में डूबता है। पानी से भारी द्रवों में हाइड्रोमीटर कम डूबता है, अतः पानीवाला निशान उस द्रव के बाहर रहता है। किन्तु पानी के हलके द्रवों में हाइड्रोमीटर काफ़ी नीचे तक डूब जाता है। पानीवाला निशान द्रव के अन्दर चला जाता है। यंत्र को बनाते समय प्रयोगशाला में जाँच करके प्रत्येक निशान के सामने लिख देते हैं कि इस निशान तक यंत्र डूबेगा तो आपेक्षिक घनत्व इतना होगा।

साधारण हाइड्रोमीटर

यह एक जार में भरे पानी में तैरता हुआ दिखाया गया है।

आबकारी-विभाग के इन्सपैक्टर हाइड्रोमीटर की मदद से शराब की दूकानों पर जाँच करते हैं कि कहीं ठेकेदार शराब में नियम के विरुद्ध ज़्यादा पानी मिलाकर धोखा तो नहीं दे रहा है। दूध में पानी की मिलावट की जाँच के लिए भी लोग हाइड्रोमीटर का प्रयोग करते हैं।

गैस का आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए शीशे के विशालकाय पीपे में बारी-बारी से साधारण हवा और दी हुई गैसों को तौल लेते हैं। इस क्रिया में इस बात की पूरी सावधानी रक्खी जाती है कि तौलते समय दी हुई गैस और हवा दोनों का दबाव और ताप एक-सा रहे। फिर हवा के वज़न से उस गैस के वज़न में भाग देने से हमें आपेक्षिक घनत्व की संख्या मालूम हो जाती है। पिछली शताब्दी में इस डर से कि खान के अन्दर कहीं विषैली गैसें न हों, लोग अपने साथ कुत्ते ले जाते थे। विषैली गैसें भारी होने से ज़मीन की सतह के पास छायी रहती थीं। अतः बेचारा कुत्ता उनका शिकार बन जाता, और लोग तुरंत सतर्क हो जाते थे।
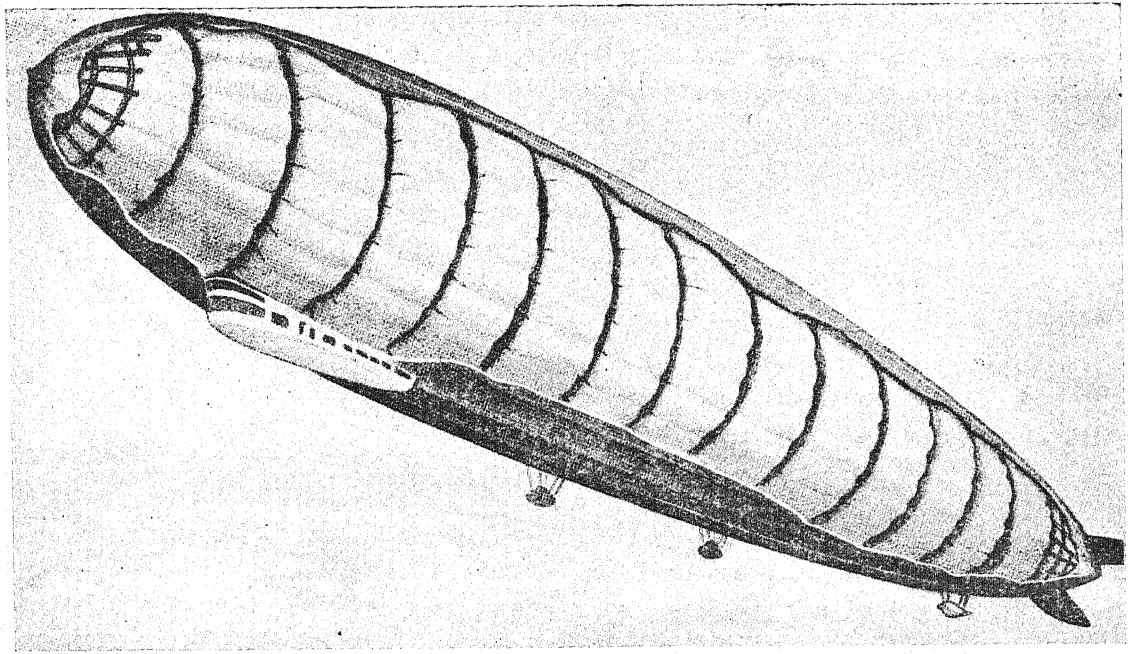
जैप्लीन नामक बड़े-बड़े वायुपोत हाइड्रोजन ही से भरे जाते हैं। इन हवाई जहाजों का भार कई टन होने पर भी ये साबुन के बुलबुले की तरह आकाश में ऊँचे उठकर उड़ते हैं। इस चित्र में प्रसिद्ध 'ग्राफ़' जैप्लीन के कलेवर के अंदर के हाइड्रोजन से भरे थैले दिखाये गये हैं।
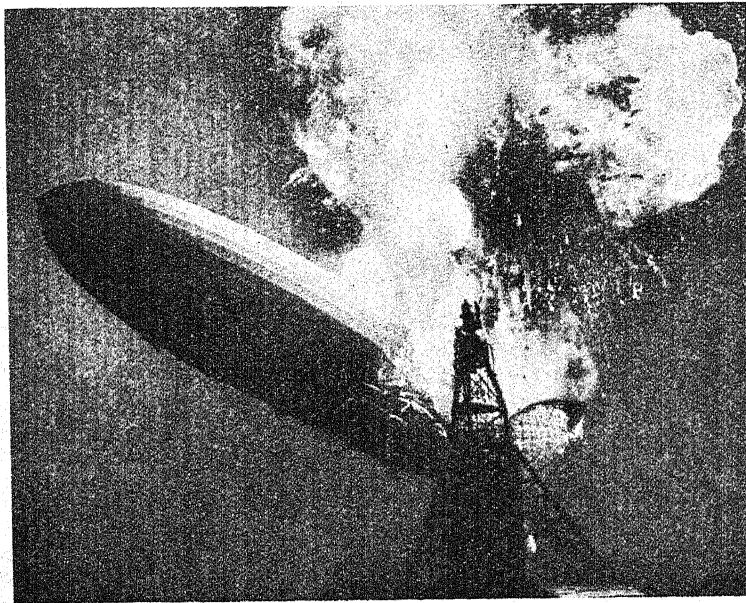
किंतु प्रज्वलनशील होने के कारण हाइड्रोजन का उपयोग खतरनाक है। प्राय: यह सुलगकर वायुपोतों को नष्ट कर देती है। इस अभागे वायुपोत की यह दशा कभी न होती यदि हाइड्रोजन की जगह अप्रज्वलनशील 'हीलियम' गैस का उपयोग किया गया होता।

बच्चों के गुब्बारों की तरह उड़ाकुओं के गुब्बारों में भी प्राय: हाइड्रोजन गैस ही भरी रहती है। यह हवा में उसी प्रकार तैरते-उतराते रहते हैं जैसे पानी में कार्क।

हाइड्रोजन के हल्केपन का मनुष्य द्वारा उपयोग

सृष्टि का सबसे हलका पदार्थ—हाइड्रोजन गैस

हम देख चुके हैं कि जितने भी पदार्थ हैं, वे दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं—मूल तत्त्व और यौगिक पदार्थ। सभी यौगिक पदार्थ मूल तत्त्वों ही के संयोग से बने हैं। हाइड्रोजन ऐसा ही एक मूल तत्त्व है, जो घनत्व और भार में सभी मूल तत्त्वों से हलका है।

हम बहुधा बाज़ार में ऐसे रबड़ के गुब्बारे बिकते हुए देखते हैं, जो छोड़ने पर ऊपर की ओर उड़ने लगते हैं और यदि उन्हें बिलकुल छोड़ दिया जाय, तो इतने ऊपर उड़ जाते हैं कि दृष्टि से ओझल तक हो जाते हैं। इन गुब्बारों में जो गैस प्रायः भरी होती है, उसे 'हाइड्रोजन' कहते हैं। संसार का सबसे हलका पदार्थ यही गैस है। लगभग पौने दो सौ वर्ष के पहले मनुष्य इस गैस से बिलकुल अपरिचित था। सन् १७६६ ईसवी में हेनरी केवेण्डिश नामक एक अंग्रेज़ रासायनिक ने यह देखा कि जब कुछ धातुओं, जैसे जस्ता और लोहा, पर हलके गंधक के तेज़ाब की क्रिया होती है, तो एक जल उठनेवाली 'हवा' (गैस) पैदा होती है। इस गैस का उसने 'प्रज्वलनशील हवा' (inflammable air) नाम रक्खा और इसके घनत्व आदि कुछ अन्य गुण भी निर्धारित किए। लगभग पंद्रह वर्ष बाद, सन् १७८१ में, प्रीस्टली नामक एक दूसरे अंग्रेज़ रासायनिक ने यह देखा कि जब इस 'प्रज्वलनशील हवा' और साधारण हवा का मिश्रण एक बंद शीशे के बरतन में रक्खा जाता है और उसमें बिजली की चिनगारियाँ गुज़ारी जाती हैं, तो वह मिश्रण विस्फुटित हो जाता है और बरतन का भीतरी पृष्ठ एक तुहिन द्वारा आच्छादित हो जाता है। लेकिन

केवेण्डिश (१७३१-१८१०)
जिसने हाइड्रोजन गैस की खोज की।

इस प्रयोग को उसने अपने कुछ दार्शनिक मित्रों को तमाशा के रूप में ही दिखाया, इसका अर्थ वह न समझ सका। इसी वर्ष प्रीस्टली के इस प्रयोग ने केवेण्डिश का ध्यान फिर इस ओर आकर्षित किया। केवेण्डिश ने इस प्रयोग को कई बार दोहराया और यह प्रमाणित किया कि इस क्रिया में जो तुहिन बनता है, वह पानी के कणों का तुहिन है। छः वर्ष बाद, सन् १७८७ में, लवॉयसियर नामक एक फ्रेञ्च रसायनज्ञ ने यह स्पष्टतः दिखा दिया कि पानी 'प्रज्वलनशील हवा' और 'क्रियाशील हवा' (active air) के रासायनिक संयोग से बना है। लवॉयसियर ने इस कारण इस 'प्रज्वलनशील हवा' का नाम 'हाइड्रोजन' रक्खा (हाइड्रो=पानी, और जन=जन्म देनेवाला, अर्थात् वह पदार्थ जो पानी का उत्पादन करता है)।

पानी के भार के नौ भागों में एक भाग हाइड्रोजन गैस का रहता है। इसके अलावा सभी तेज़ाबों और खारों, तथा अनेकानेक जड़ (inorganic) और चेतन (organic) पदार्थों, यथा खानेवाला सोडा, अमोनिया गैस, लकड़ी, मैदा, शकर, तेल, घी, आदि में यह मूल तत्त्व संयुक्त रूप में रहता है। स्वतंत्र रूप में यह हवा में, विशेषतः हवा के ऊपरी तलों में, बहुत ही कम मात्रा

काकों के इधर-उधर से न निकल सके। निकास-नली का दूसरा सिरा एक गोल नाँद में 'बीहाइव शेल्फ़' (beehive shelf) के नीचे डूबा रहता है। थिसिल कीप द्वारा तेज़ाब वुल्फ़ बोतल में डाला जाता है और थिसिल कीप को नीचे की ओर खिसकाकर उसका निचला सिरा तेज़ाब में डुबा दिया जाता है, ताकि उससे होकर गैस न निकल सके। तेज़ाब डालते ही तेज़ी से गैस के बुलबुलों का निकलना शुरू हो जाता है। निकासनली द्वारा पहले हवा और फिर कुछ देर तक हवा-मिश्रित गैस निकलती है, किंतु यह मिश्रण विस्फोटक होने के कारण।।इकट्ठा नहीं किया जाता। गैस के बनते समय कोई जलती हुई वस्तु निकट न रखना चाहिए, नहीं तो उपकरणपात्रों के भीतर, यदि हाइड्रोजन वायु-मिश्रित हुई तो, खतरनाक विस्फोटन की संभावना रहती है। कुछ देर में सारी हवा बुलबुलों के रूप में बाहर निकल जाती है और शुद्ध हाइड्रोजन गैस आने लगती

में रहता है, किंतु सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों में अधिक परिमाण में है (देखिए पृष्ठ २ पर सूर्य के हाइड्रोजन के बादलों का चित्र)।

स्कूल अथवा घरेलू प्रयोगशाला में हाइड्रोजन गैस कई रीतियों से तैयार की जा सकती है। सबसे सरल रीति में साधारण ग्रेनुलेटेड जस्ते (granulated zinc) पर हलके गंधकाम्ल की क्रिया का उपयोग किया जाता है। ग्रेनुलेटेड जस्ता पिघले हुए जस्ते को पानी में छोड़कर बनाया जाता है, जिससे वह टेढ़े-मेढ़े पत्तुरों के रूप का हो जाता है। ऐसा होने से उसका तल बढ़ जाता है और गंधकाम्ल की क्रिया, क्रिया-क्षेत्र बढ़ जाने के कारण, अधिक तीव्र हो जाती है। शुद्ध जस्ते पर, अथवा ऐसे जस्ते पर जो ग्रेनुलेटेड न हो, गंधकाम्ल की क्रिया नहीं के बराबर होती है। कुछ ग्रेनुलेटेड जस्ता एक वुल्फ़ बोतल (Woulfe's bottle) में रक्खा जाता है। बोतल के एक मुँह में एक एक छेदवाले कार्क द्वारा थिसिल कीप (thistle funnel) लगा दी जाती है और दूसरे मुँह में उसी तरह एक निकास-नली लगा दी जाती है। दोनों कार्कों को इस प्रकार दृढ़ता से लगाना चाहिए कि गैस

प्रयोगशाला में हाइड्रोजन तैयार करने की रीतियाँ (१)
(ऊपर) ग्रेनुलेटेड जस्ते पर हलके गंधकाम्ल का प्रयोग; (बीच में) पानी का वैद्युत् विश्लेषण; (नीचे) सोडियम पर जल की प्रतिक्रिया।

है। यह गैस शेल्फ़ के ऊपर जल से भरा 'गैसजार' नामक पात्र रख देने से इकट्ठा होने लगती है। पानी, अधिक भारी होने के कारण, नीचे उतर जाता है और कुछ ही देर में जार भर जाता है। गैस से भरा हुआ जार पानी के अंदर ही एक ग्रीज़ अथवा वेसलीन लगे हुए घिसे शीशे के गोल प्लेट द्वारा बंद कर दिया जाता है और निकालकर वैसा ही उल्टा रख दिया जाता है। सीधा रखने से हलकी होने के कारण हाइड्रोजन के निकल जाने की अधिक संभावना रहती है। आवश्यकता के अनुसार, इस प्रकार, कई जार भरे जा सकते हैं।

हाइड्रोजन गैस का चाहे जिस समय उपयोग करने के लिए 'किप अपरेटस' नामक यंत्र सर्वोत्तम साधन है। इस शीशे के पात्र में तीन गोल होते हैं। बीच के गोल में ग्रेनुलेटेड जस्ता रक्खा जाता है। ऊपरवाले गोल की डाँड़ी बीचवाले गोल से होकर नीचेवाले गोल के पेंदे तक पहुँचती है। ऊपर के गोल से हलका गंधक का तेज़ाब छोड़ा जाता है, जो नीचे के गोल को बिलकुल भरकर कुछ बीचवाले गोल में भी पहुँचता है। यहाँ रासायनिक क्रिया शुरू हो जाती है और गैस निकलने लगती है। गैस की आवश्यकता न रहने पर टोंटी बन्द कर दी जाती है। ऐसा करने से बीचवाले गोल में गैस का दबाव बढ़ जाता है और तेज़ाब दबकर नीचे खसक जाता है। इस प्रकार जितना तेज़ाब नीचे खसकता है, उतना ही डाँड़ी द्वारा ऊपरवाले गोल में चढ़ जाता है। तेज़ाब के हटने से बीचवाले गोल में केवल जस्ता रह जाता है और क्रिया समाप्त हो जाती है। टोंटी खोलने से गैस फिर बाहर निकलने लगती है, जिससे दबाव कम हो जाता है और तेज़ाब फिर बीचवाले गोल में चढ़कर क्रिया को शुरू कर देता है।

प्रत्येक अम्ल में संयुक्त दशा में हाइड्रोजन अवश्य रहती है। अम्ल के तेज़ाबी गुण का कारण यही हाइड्रोजन है। गंधकाम्ल के एक अणु में हाइड्रोजन के दो परमाणु, गंधक का एक परमाणु और ऑक्सिजन के चार परमाणु सम्मिलित रहते हैं। वैज्ञानिक भाषा में हाइड्रोजन का प्रतीक H है, गंधक का S और ऑक्सिजन का O, इसलिए गंधकाम्ल का अणुसूत्र H_2SO_4 लिखा जाता है। जब इस तेज़ाब में जस्ता डाला जाता है, तो वह हाइड्रोजन को
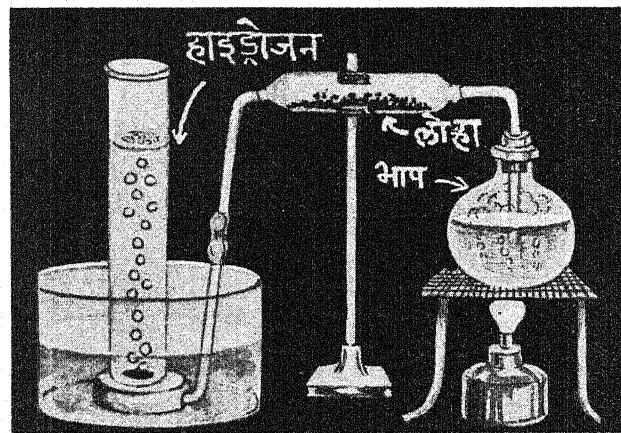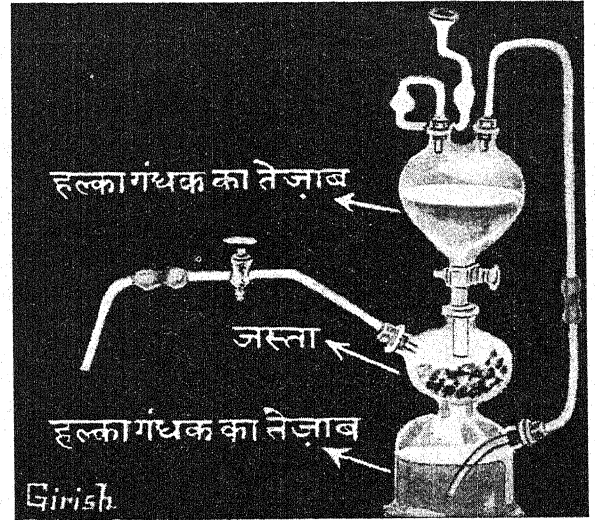
प्रयोगशाला में हाइड्रोजन गैस तैयार करने की विविध रीतियाँ (२)

(ऊपर के चित्र में) किप अपरेटस द्वारा हाइड्रोजन तैयार करने की विधि। (नीचे के चित्र में) लोहे के गर्म बुरादे पर भाप प्रवाहित करके हाइड्रोजन का उत्पादन। [पृष्ठ २७२ पर प्रदर्शित तीन रीतियों और इन दोनों चित्रों की रीतियों का विस्तृत विवरण लेख में देखिए। यहाँ हमने प्रयोगशालाओं में बहुत थोड़ी मात्रा में हाइड्रोजन तैयार करने की विधियों और यंत्रों के ही चित्र दिये हैं।]

निकालकर बाहर कर देता है और स्वयं SO_4 (सल्फ़ेट) अणु-भाग से संयुक्त होकर यशद सल्फ़ेट (Zinc Sulphate) में परिवर्तित हो जाता है। यशद (जस्ता) का रासायनिक

प्रतीक Zn है। इसलिए पूरी क्रिया निम्न रासायनिक समीकरण द्वारा स्पष्ट की जाती है—

$$Zn + H_2SO_4 = ZnSO_4 + H_2$$

यशद गंधकाम्ल = यशद सल्फ़ेट (जो पानी में घुल जाता है) + हाइड्रोजन गैस (जो निकल जाती है)
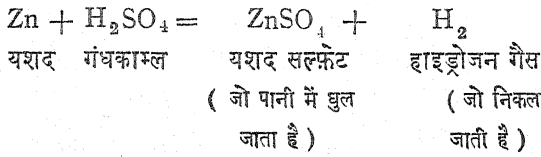
हाइड्रोजन गैस के बनाने की एक दूसरी रीति को 'पानी का वैद्युत् विश्लेषण' कहते हैं। प्रयोगशाला में पानी का वैद्युत् विश्लेषण निम्न रीति से किया जा सकता है। एक शीशे के पात्र में अलग-अलग प्लैटिनम धातु के दो पत्र लगे रहते हैं। पानी को बिजली का संचालक बनाने के लिए उसमें थोड़ा-सा गंधक का तेज़ाब मिला दिया जाता है और दोनों प्लैटिनम-पत्रों के ऊपर उसी तेज़ाबी पानी से भरी हुई दो नलियाँ (अथवा गैस जार) उलट दिये जाते हैं। प्लैटिनम इसलिए उपयुक्त होता है कि उस पर तेज़ाब आदि का असर नहीं पड़ता। प्लैटिनम-पत्रों को तारों द्वारा बैटरी के दोनों शिरों से संबंधित करने पर तुरंत दोनों नलियों में उन पर से बुलबुले उठने लगते हैं। थोड़ी ही देर में पर्याप्त गैस भर जाती है। ऋणध्रुव (negative electrode) पर निकलनेवाली गैस का आयतन धनध्रुव (positive electrode) पर निकलनेवाली गैस के आयतन से दुगुना होता है। परीक्षा करने पर अधिक आयतनवाली गैस हाइड्रोजन पाई जाती है और कम आयतनवाली ऑक्सिजन। हाइड्रोजन जलाने से जल उठती है और ऑक्सिजन एक सुलगती हुई खिपाच अथवा दियासलाई को भक से जला देती है। इस प्रयोग में जो मूल तत्त्व जिस आयतन-संबंधी अनुपात में संयुक्त होकर पानी बनाते हैं, उसी अनुपात में वे निकल पड़ते हैं। जहाँ बिजली सस्ती होती है, वहाँ हाइड्रोजन को अधिक परिमाण में तैयार करने के लिए यह एक सुगम रीति है।
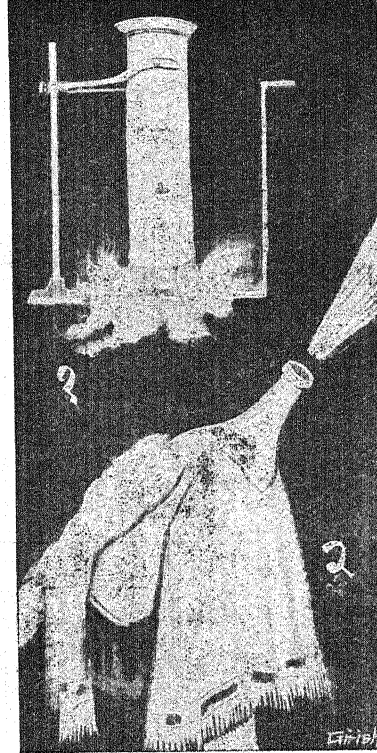
हाइड्रोजन संबंधी दो प्रयोग

नं० १—हाइड्रोजन स्वयं जलती है किंतु दूसरी वस्तुएँ उसमें नहीं जलतीं (देखिए पृष्ठ २७५ का मैटर)। नं० २—हाइड्रोजन-आक्सीजन के मिश्रण द्वारा विस्फोटन (देखिए पृष्ठ २७५ का मैटर)।

हाइड्रोजन बनाने की एक अन्य रीति में गर्म दहकते हुए लोहे के बुरादे के ऊपर से भाफ़ प्रवाहित की जाती है। उस तापक्रम पर लोहा पानी की ऑक्सिजन से मिलकर अपनी काली चुंबकीय ऑक्साइड में परिवर्तित हो जाता है और बची हुई हाइड्रोजन स्वतंत्र मूल तत्त्व के रूप में बाहर निकल जाती है। लोहे के सस्ता होने के कारण यह रीति बहुधा हाइड्रोजन को अधिक परिमाण में बनाने के लिए उपयुक्त होती है। केवल लोहा ही नहीं मैग्नेशियम और जस्ता भी इन दशाओं में इसी प्रकार पानी से हाइड्रोजन को मुक्त कर देते हैं। सोडियम धातु तो ठंढे पानी को ही विच्छेदित कर देती है। यदि हम एक जालीदार बंद चमची में सोडियम का एक छोटा-सा टुकड़ा लें और उसे जलपात्र में पानी से भरे जार के नीचे डुबो दें, तो हाइड्रोजन बुलबुलों के रूप में निकलकर जार में इकट्ठा हो जाती है।

हाइड्रोजन गैस एक रंगहीन, गंधहीन, स्वादहीन, अदृश्य गैस होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संसार की सबसे हलकी वस्तु यही है। हवा से यह लगभग पंद्रह गुनी अधिक हलकी होती है। बहुत ही अधिक ठंढा करने पर और भारी दबाव में हाइड्रोजन द्रवीभूत हो जाती है तथा और भी अधिक ठण्ढा करने पर ठोस में परिवर्तित हो जाती है। तरल हाइड्रोजन एक रंगहीन द्रव होता है, जिसका क्वथनांक −२५३°c और हिमांक—२५९°c है (देखो पृष्ठ २७५ का चित्र)। हाइड्रोजन का एक अणु उसके दो परमाणुओं के संयोग से बनता है। इसीलिए हाइड्रोजन गैस का अणु-सूत्र H_2 लिखा जाता है।

अगर हम गैस से भरे एक जार को सीधा रखकर उसे खोलें और तुरंत जलती हुई चीज़ उसके मुँह पर ले जायँ तो गैस, यदि वह हवा से मिश्रित नहीं है, धीमी 'पप' की आवाज़ करके एक हलके आसमानी रंग की लौ के साथ जल उठेगी। किन्तु, यदि गैस हवा या ऑक्सिजन से मिल

गई है, तो वह ज़ोर की आवाज़ के साथ जलेगी। यदि हाइड्रोजन के दो आयतन ऑक्सिजन के एक आयतन से मिश्रित हो जायँ, तो इस मिश्रण के जलाने पर बहुत ज़ोर का धड़ाका होगा; और यदि गैसपात्र कमज़ोर है, तो वह फूट जायगा और प्रयोग करनेवाले के लिए चोट का खतरा रहेगा। यद्यपि यह विस्फोटन एक विशेष मज़बूत बोतल में किया जा सकता है, लेकिन तब भी सावधानी के लिए बोतल को एक तौलिया या कपड़े से लपेट लिया जाता है। (दे० पृष्ठ २७४ के चित्र में नं० २)। गैस के विस्फोटन के बाद बोतल का भीतरी तल जलतुहिन से ढका हुआ पाया जाता है।

जब हाइड्रोजन ऑक्सिजन में जलती है, तो ऑक्सिजन का प्रत्येक परमाणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओं से सम्मिलित होकर पानी के एक अणु में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए पानी का अणु-सूत्र H_2O लिखा जाता है। यदि हम चाहें तो हाइड्रोजन की ज्वालशिखा को किसी ठंडे तल पर लगाकर इस प्रकार बने हुए जलवाष्प को घनीकरण द्वारा पानी के रूप में इकट्ठा भी कर सकते हैं। इस रासायनिक संयोग में बहुत अधिक गर्मी का उद्भवन होता है और इसी कारण हाइड्रोजन की ज्वाला का तापक्रम बहुत ऊँचा होता है।

यदि हम गैस से भरा हुआ एक दूसरा जार उलटा लटकाएँ और उसे खोलकर शीघ्र ही उसमें एक टेढ़ी दीपचमची द्वारा जलती हुई मोमबत्ती डालें, तो हम देखेंगे कि गैस तो जार के मुँह पर जलने लगती है, लेकिन मोमबत्ती बुझ जाती है (दे० पृष्ठ २७४ के चित्र में नं० १)। जैसे ही मोमबत्ती फिर बाहर निकाली जाती है, वैसे ही लौ में लगकर फिर जल उठती है। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि हाइड्रोजन स्वयं तो प्रज्वलनशील है, किंतु दूसरी वस्तुएँ उसमें नहीं जल सकतीं।

हाइड्रोजन की संयोगशक्ति केवल ऑक्सिजन तक ही परिमित नहीं है। वह विभिन्न दशाओं में अन्य बहुत से मूल तत्त्वों, यथा क्लोरीन, ब्रोमीन, गंधक, नाइट्रोजन, सोडियम, कैल्शियम आदि, से संयुक्त होकर विभिन्न यौगिक (compounds) बनाता है। हाइड्रोजन की ऑक्सिजन से संयुक्त होने की शक्ति इतनी प्रबल होती है कि जब वह गर्म की हुई कुछ धातव ऑक्साइडों के ऊपर से प्रवाहित की जाती है, तो उनकी ऑक्सिजन से संयुक्त होकर स्वयं तो पानी में बदल जाती है और उन्हें धातुओं में परिवर्तित कर देती है। इसीलिए हाइड्रोजन को अल्पकारी पदार्थ (reducing agent) कहते हैं और इस क्रिया को अल्पीकरण (reduction) कहते हैं, कारण वह ऑक्साइडों को घटाकर धातुओं में बदल देती है। किंतु इस क्रिया में हाइड्रोजन स्वयं ऑक्सिजन से संयुक्त हो जाती है, जिससे पानी बन जाता है। ऑक्सिजन से संयुक्त होने की इस क्रिया को ऑक्सीकरण (oxidation) कहते हैं।

द्रवीभूत हाइड्रोजन

बहुत अधिक ठंडा करने पर और भारी दबाव में हाइड्रोजन गैस द्रव (lipuid) का रूप ग्रहण कर लेती है। इस चित्र में द्रवीभूत हाइड्रोजन एक थर्मस बोतल में से प्याले में उँडेली जा रही है। (दे० पृष्ठ २७४ और २७६ का मैटर)

हाइड्रोजन का हलकापन और उसका जलना कई मनोरंजक प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित किये जा सकते हैं। रबर के गुब्बारे को गैस से भरकर उड़ाना उनमें से एक है। इस गुब्बारे को जलाने से वह भक से जल उठेगा। यह जलाने की क्रिया सावधानी से करना चाहिए और गुब्बारे को अपने से कुछ दूर पर रखकर जलाना चाहिए। यदि इस गुब्बारे में एक जलनेवाली बत्ती (touch cotton) को बाँध-

कर लटका दिया जाय और उसका एक सिरा एक सुलगती हुई वस्तु से सुलगाकर गुब्बारा उड़ा दिया जाय, तो थोड़ी देर में उड़ता हुआ गुब्बारा जल उठेगा और एक मनोरंजक दृश्य उपस्थित करेगा।

एक दूसरा मनोरंजक प्रयोग साबुन के बुलबुलों का उड़ाना है। इसके लिए निम्न रीति से तैयार किया गया साबुन का घोल बहुत ही उपयुक्त पाया गया है। ४०० c.c. स्रवित जल (distilled water) में १० ग्राम सोडियम ओलियट (साबुन का एक अवयव) छोड़कर एक बंद बोतल में तब तक रक्खा रहने दीजिए जब तक वह घुल न जाय। इसमें १०० c.c. ग्लिसरीन छोड़कर किसी अँधेरी जगह में कुछ दिन के लिए छोड़ दीजिए, फिर ऊपर का साफ़ घोल निथारकर उसमें एक बूँद तेज़ अमोनिया छोड़ दीजिये। हवा में खुला न छोड़ने और अँधेरी जगह में रखने से यह घोल बरसों काम दे सकता है। साबुन के बुलबुलों को बनाने के लिए एक थिसल कीप के पतले सिरे को रबर की नली द्वारा किप अपरेटस अथवा किसी अन्य हाइड्रोजन अपरेटस से जोड़ दीजिए और कीप को उपर्युक्त साबुन के घोल में डुबा दीजिए। जैसे ही बुलबुला बनने लगे, वैसे ही कीप को ऊपर उठा देने से बुलबुला बन जायगा और अलग होकर उड़ जायगा। यह उड़ते हुए बुलबुले सावधानी से जलाने पर जल उठते हैं।

हाइड्रोजन और हवा के घनत्व में अत्यधिक विभिन्नता होने के कारण उनकी प्रकाश-सम्बन्धी वर्त्तन शक्तियों (refractive powers) में भी बहुत अन्तर होता है। इसीलिए वायु में मिश्रित होती हुई हाइड्रोजन पारदर्शक होते हुए भी तीव्र प्रकाश में अपनी छाया डालती है। हाइड्रोजन अपरेटस के मुँह में लगी हुई किसी पतली टोटी (jet) को, जिससे हाइड्रोजन निकल रही हो, किसी श्वेत तल के समक्ष रखकर यदि सामने से कोई तीव्र प्रकाश डाला जाय, तो यह छाया देखी जा सकती है।

हाइड्रोजन, इतनी हलकी होने के कारण, गुब्बारों तथा वायुयानों को भरने में उपयुक्त होती है, लेकिन प्रज्वलनशील होने के कारण इसका उपयोग खतरनाक साबित हुआ है। इसलिए आजकल वायुयानों में हाइड्रोजन की जगह पर इसके बाद वाली दूसरी सबसे हलकी गैस हीलियम (helium) का उपयोग होने लगा है। हीलियम में रासायनिक क्रियाशीलता होती ही नहीं, अतएव न वह जल ही सकती है और न उसमें और ही कोई रासायनिक परिवर्तन संभव है। हाइड्रोजन का एक अन्य उपयोग 'ऑक्सी-हाइड्रोजन ज्वालशिखा' (oxy-hydrogen flame) के उत्पादन में होता है। इस ज्वालशिखा का तापक्रम लगभग २८००°c होता है और यह इतनी गर्म होती है कि अधिकतर धातुएँ इससे जोड़ी, गलाई, अथवा छिद्रित की जा सकती हैं और इसी कार्य के लिए इसका उपयोग भी होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, धातव ऑक्साइडों के अल्पीकरण में भी हाइड्रोजन का उपयोग होता है। हाइड्रोजन का एक अन्य आधुनिक उपयोग वनस्पति तेलों को वनस्पति घी में परिवर्तित करने का है। निकल (nickel) धातु के महीन चूर्ण की उपस्थिति में जब हाइड्रोजन गैस वनस्पति तेलों में से गुज़ारी जाती है, तो तेल इससे संयुक्त होकर घी के रूप में परिणत हो जाते हैं। निकल-चूर्ण इस संयोग को केवल संभव कर देता है और इस क्रिया की गति को बढ़ाता है, किंतु स्वयं परिवर्तित नहीं होता। ऐसे पदार्थों को योगवाही पदार्थ (catalysts) कहते हैं।

आक्सी-हाइड्रोजन ज्वालशिखा

इस चित्र में आक्सी-हाइड्रोजन ज्वालशिखा द्वारा लोहे की एक गर्डर को काटते हुए दिखाया गया है। यंत्र में दो नलियाँ हैं, जो मुँह पर मिलकर एक हो जाती हैं। एक नली से हाइड्रोजन और दूसरी से आक्सिजन गैस आती है। दोनों का मिश्रण टोंटी से निकलता है। जब वह सुलगा दिया जाता है तब भीषण लौ पैदा हो जाती है।
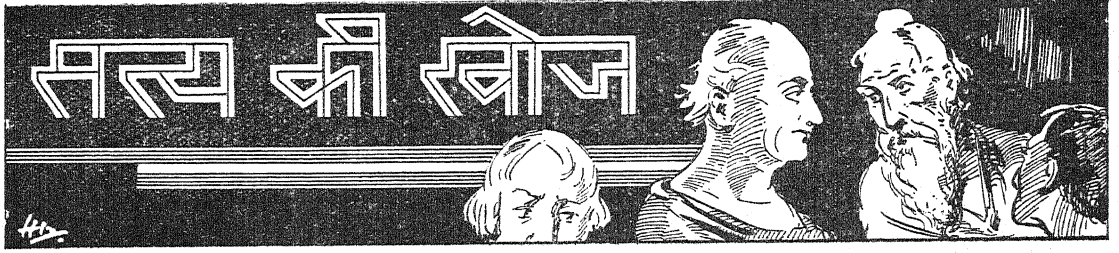
संप्रश्न*

अंतिम रहस्यात्मक तत्त्व के सम्बन्ध में 'क्यों', 'कैसे' और 'किससे' इन तीन प्रश्नों का समवाय

जिज्ञासा दर्शन की जननी है। उस जिज्ञासा के पथ अनेक हैं। उनका कुछ दिग्दर्शन गत लेख में हो चुका है। उन सब मार्गों का पर्यवसान किसी एक अज्ञेय रहस्य में है। उसके विषय में महा न्यग्रोधों के नीचे विराजमान हमारे पुराण-पुरुष जितना जान पाये थे, उससे कुछ भी अधिक आज तक के भगीरथ प्रयत्नों के द्वारा हम नहीं जान सके हैं। इस सृष्टि का क्या रहस्य है, इसका नियन्ता कौन है, इसका आदि क्या है, अन्त क्या है, इसके पीछे क्या ज्ञानमय हेतु काम कर रहा है, ये प्रश्न आज के नहीं हैं, अनेक बार पूछे जा चुके हैं। सर्वप्रथम गंगा की अन्तर्वेदी में इनका समुत्थान हुआ—

कासीत् प्रमाप्रतिमा किं निदानम् ? [ऋ० १०।१३०।३]

सृष्टि क्यों? इसकी प्रमा क्या थी, किस भावना को लेकर सृष्टिकर्त्ता ने इसका सूत्रपात किया? सृष्टि कैसे? अर्थात् किस आयोजना अथवा रचनाविधि का अनुसरण यहाँ किया गया, किस प्रतिमा या नमूने के अनुसार इस विराट् आयोजन की प्रवृत्ति हुई? पुनश्च किस निदान अर्थात् सामग्री से इसकी रचना की गई? **क्यों, कैसे और किससे**—ये तीन महान् प्रश्न हैं। इनके गर्भ में अनेक उत्तरों की आहुतियाँ पड़ती रही हैं, परन्तु ये प्रश्न आज भी पूर्ववत् बुभुक्षित हैं। ज्ञानतीर्थ के अगणित यात्री इन महादेवों के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट कर चुके हैं, परन्तु इनका अन्तिम वरदान किसी एक को पूर्णतया मिल सका है, यह संदिग्ध है। अस्यवामीय सूक्त के ऋषि ने गिने हुए शब्दों में इसी महान् तत्त्व को ज्ञानसृष्टि के आदि में ही व्यक्त किया था—

कवीयमानः क इह प्रवोचत् ? [ऋ० १।१६४।१८]

क्रान्तदर्शी प्रज्ञा से विचार करते हुए कौन अब तक उस रहस्य के अन्त तक पहुँच सका, और कौन उसे कह पाया? भारत के सर्वश्रेष्ठ मनीषी कवि थे। कवि ही उनकी ऋतम्भरा प्रज्ञा को व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त शब्द है। कवि को प्राप्त होनेवाले साक्षात् दर्शन को उन्होंने अनेक प्रकार से व्यक्त किया है, परन्तु इसलिए कि हममें से कभी कोई इस धोखे में न रहे कि रहस्य को जानने का अब अन्त हो गया है, उन्होंने स्वयं ही सचाई से अपनी मर्यादाओं को हमारे सामने रख दिया है—

को श्रद्धा वेद क इह प्रवोचत् ?

अर्थात् कौन जानता है, कौन कह सकता है? ये उद्गार अगाध ज्ञान के द्वारा प्राप्त होनेवाले अनुभव की गम्भीरता और पूर्णता को ही प्रकट करते हैं, इनमें अशक्त मनुष्यों की निराशा का भाव नहीं है। अनन्त आकाश में महाबलवान् गरुड़ के समान ऊँची-से-ऊँची उड़ान भरने पर भी उसका अन्त पाना कठिन है। कागभुशुण्डिजी ने ठीक कहा है—

तुमहिं आदि खग मसक प्रजंता।
नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥

अपने पंखों से वायुमण्डल को धुन देनेवाले पक्षिराज गरुड़ को भी यदि आकाश की अनन्तता के आगे नतमस्तक होना पड़े, इससे केवल आकाश की ही महिमा प्रगट होती है, गरुड़ की क्षुद्रता नहीं। विद्वद्वर मेटरलिंक ने 'The Great Secret' नामक ग्रन्थ में बड़े तेजस्वी शब्दों में लिखा है कि नासदीय सूक्त के कर्त्ता ने जिज्ञासा और प्रश्न के मार्ग में, जितना हम कभी पहुँच सकेंगे उससे भी आगे बढ़कर, निराशा और अश्रद्धा से हमारी रक्षा करने के लिए, पहले ही कह दिया है—

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् स अंग वेद यदि वान वेद।

अर्थात् इस सृष्टि के रहस्य को कौन जान पाया है, और कौन कह सका है? जो इस सब प्रदर्शन का अध्यक्ष परम पद में प्रतिष्ठित है, वह भी इसे जानता है या नहीं, इसमें संदेह है! यह है भारतीय ज्ञान की चुनौती, जिसकी सत्यता आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सहस्रमुखी प्रयत्नों द्वारा भी खण्डित नहीं हो सकी है। विज्ञान ने भूतसृष्टि के अपरिमित विश्लेषणों द्वारा प्रोटन, इलेक्ट्रन, न्यूट्रन, पाज़ीट्रन आदि रहस्यमय पदार्थों को हमारे सामने लाकर

* महान् या विराट् प्रश्न (The Great Question)।

खड़ा कर दिया है, जिनका अवलोकन कर प्राचीन देवों का स्मरण हो आता है। परन्तु विश्व का रहस्य कहीं इन सबके पीछे छिपा हुआ है। और जिस प्रकार ऋग्वेद के ऋषि ने कहा है कि देवगण बाद में जनमें हैं अतएव उन्हें कर्त्ता के आद्य रहस्य का ज्ञान नहीं, उसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान के ये 'अर्वाचीन देवता' शक्ति के आद्य कारण का पता लगाने में बिल्कुल अशक्त हैं—

न तं विदाथ य इमा जजान। [ऋ० १०।८२।७]

'वे उसे नहीं जानते जिसने इस सबको उत्पन्न किया है।' विज्ञान के चमत्कार स्तुत्य हैं, परन्तु **किं, कथं, कुतः**, इन मौलिक प्रश्नों की उद्भावना जहाँ पहले थी, आज भी वहीं है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का काव्यमय संगीत आज भी अमर है और नये अर्थों से भरा हुआ है।

दर्शन के उषःकाल में जब भारतवर्ष के ऋषियों ने इस प्रकार अपने अनुभवों को व्यक्त किया था, उसके बाद से आज तक विश्वनियन्ता के रहस्य के विषय में हम क्या जान सके हैं? मेटरलिंक ने 'The Supreme Law' नामक अपने ग्रंथ में प्राचीन और नवीन दोनों की तुलना करते हुए लिखा है—

"What have we found out since? 'Something is doing something we do not what,' writes Eddington. Is not this *nescio quid,* which is the last word of our science, but a faint and vulgar echo of the magnificent avowal of the Sama Veda saying of the supreme Deity: He who believes he knows it not knows it; he who believes he knows it knows it not at all. It is regarded as incomprehensible by those who know it most, and as perfectly known by those who are utterly ignorant of it." [p. 66]

अर्थात् "तब से हमारे ज्ञान ने क्या प्रगति की है? एडिंगटन का वचन है 'कहीं पर कोई कुछ कर रहा है।' परन्तु क्या विज्ञान की यह अन्तिम स्वीकृति कि 'हमें कुछ नहीं मालूम' इन महान् ओजस्वी वचनों की, जिन्हें सामवेद के ऋषि ने परब्रह्म के विषय में कहा है, एक अति तुच्छ और बोदी प्रतिध्वनि जैसी नहीं जान पड़ती—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानताम् विज्ञातमविजानताम्॥
[सामवेदीय केन उपनिषद्]

अर्थात् जो मानता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता, वह उसे जानता है; और जो यह मानता है कि मैं जानता हूँ, वह कुछ नहीं जानता। जो उसके जाननेवाले हैं, वे उसे अनजाना हुआ समझते हैं, और जो कुछ नहीं जानते, वे समझते हैं कि हमने ब्रह्म को सर्वथा जान लिया।"

ब्रह्म या अन्तिम रहस्यात्मक तत्त्व की यही अनिर्वचनीयता है, जिसके कारण उसके आगे सदा के लिए एक दुर्धर्ष प्रश्नवाची चिह्न लगा हुआ है*। इसी से मुग्ध होकर ऋग्वेद के ऋषि ने उस रहस्य का एक नाम **संप्रश्न** कहा है। यह ऐसा विराट् प्रश्न है, जिसकी कुक्षि में विश्व का समस्त ज्ञान समाया हुआ है, जो भूतभुवनभविष्यत् से गर्भित होकर भी अनन्त अवकाश को लिये हुए है।

यो देवानां नामधा एक एव
तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या। [ऋ० १०।८२।३]

अर्थात् अनेक देवों के नामों के पीछे जो एक ही समाविष्ट है, उस 'संप्रश्न' नामक देव में सब भुवनों का पर्यवसान है।

क्या यह कभी सम्भव है कि इस प्रकार के रहस्यमय देव ने जिस रहस्यमय जगत् को उत्पन्न किया है, उसके एक परमाणु का भी सम्पूर्ण रहस्य हमें कभी मिल पायगा? मेटरलिंक ने कहा है कि मैं अपने शत्रु के लिए भी इस प्रकार की कामना न करूँगा कि उसे ऐसे संसार में रहना पड़े, जिसके एक अणु का भी सारा भेद खुल गया हो। फिर वहाँ मनुष्य के लिए कुतूहल और आनन्द का क्या सामान बच रहेगा! अपनी समस्त तर्कणाशक्ति, बुद्धि, धैर्ययुक्त परिश्रम और आविष्कुल वैज्ञानिक साधनों से निरन्तर अध्ययन के बाद भी हमारा ज्ञान अधिकाधिक **अ+ज्ञान** में परिणत हो रहा है। जितना हम प्रकाश को ढूँढ़ते हैं, हमारे परिचय का अभाव उतना ही अधिक हमें खटकता है। क्या मनुष्य के प्रयत्नों का पर्यवसान इसीलिए है? परन्तु इससे हम निराश न हों। 'संप्रश्न' के साथ टक्कर मारकर जिस अज्ञान की अनुभूति होती है, वह उस थोथे पाण्डित्य से भली है, जिसमें जिज्ञासा और संशय का उदय ही नहीं होता। उस रहस्य को जानने की जो सनातनी पद्धति है, उससे कम-से-कम उस तत्त्व का माहात्म्य तो प्रकट होता ही है:—

प्रभु प्रताप महिमा उद्घाटी। प्रगटी धनु-विघटन-परिपाटी॥

उस अज्ञेय रहस्य-रूपी शिवधनु के विघटन के लिए एक के बाद एक होनेवाले असफल प्रयत्न, उस शक्ति की अनन्त और अचिन्त्य महिमा को अवश्य व्यक्त करते हैं। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'—मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ, इस प्रकार कह सकनेवाले विरले धीर पुरुष ही उस कठोर संप्रश्न-रूपी पिनाक को अधिज्य करने में समर्थ हो पाते हैं।

*'A confession .... where God becomes a mark of interrogation in the darkness.'—*The Supreme Law*, p. 67.

पृथ्वी की कहानी
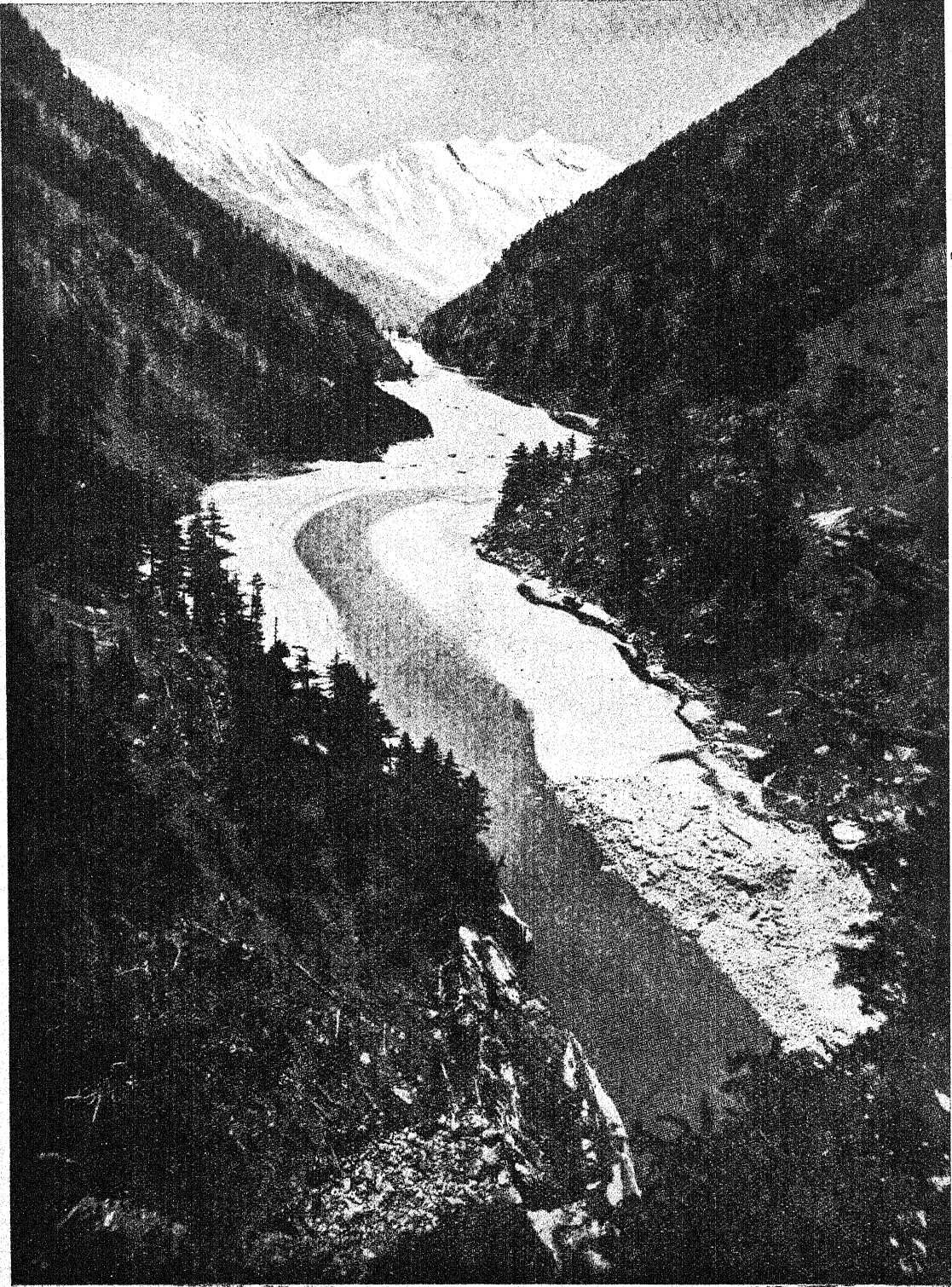
धरातल का निरंतर उलट-फेर करनेवाली शक्तियों का एक प्रत्यक्ष उदाहरण

बड़ी-बड़ी नदियाँ हिमाच्छादित पर्वतों से उतरकर पर्वत-खण्डों को काटती और शिलाओं को बहाती तथा चूर-चूर करती हुई उनकी मिट्टी को बहा-बहाकर समुद्र के तट-भाग को पाटती रहती हैं। इस चित्र में हिमालय से उतरती हुई गंगा नदी का एक दृश्य है।

पृथ्वी पर होनेवाली निरंतर घटनाएँ और उनका भूतात्त्विक प्रभाव

पृथ्वी का इतिहास उसके रूप में होनेवाले निरंतर परिवर्त्तनों का इतिहास है। ये परिवर्त्तन क्या हैं, आइए इस प्रकरण में देखें।

पृथ्वी जन्म से लेकर आज तक इतनी अधिक बदल चुकी है कि वर्तमानकालीन मनुष्य पृथ्वी के आरम्भिक रूप की कल्पना करने के लिए सहज ही तैयार नहीं होंगे। वास्तव में पृथ्वी का परिवर्त्तन इतना शनैः-शनैः हुआ करता है कि मनुष्य अपने जीवनकाल में इसका बोध नहीं कर पाता, इसका बोध तो युगों के पश्चात् हो पाता है। परन्तु हमारी दृष्टि के सामने ही नित्य कुछ ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं, जिनसे पृथ्वी की रचना में उलट-फेर होता रहता है। हम इन घटनाओं को निरन्तर देखते हैं, परंतु देखते-देखते उनके ऐसे आदी हो गये हैं कि हम उनके महत्त्व को समझने की चेष्टा नहीं करते। यदि हम इन निरन्तर होनेवाली घटनाओं के प्रभाव का गूढ़ अध्ययन करें, तो हम आश्चर्य के साथ यह देखेंगे कि इन सब घटनाओं के कारण ही पृथ्वी का रूप निरन्तर बदलता रहता है, और बदलता रहेगा।

पृथ्वी की रचना पर प्रभाव डालनेवाली घटनाओं को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम तो वे साधारण-सी घटनाएँ जो नित्य घटित होती रहती हैं। इनका प्रभाव अदृष्टिगोचर होने पर भी इतना महत्त्वपूर्ण है कि पृथ्वी की रचना में परिवर्त्तन लाने का अधिकांश श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। रात और दिन का होना, ऋतुओं का परिवर्त्तन, दिन में गर्मी और रात में सर्दी का पड़ना, वर्षा का होना, नदी-नालों का बहना, झीलों और झरनों का बनना, बर्फ़ का गिरना, ग्लेशियरों का बहना, आँधियों का चलना, नदियों का समुद्र में गिरना, नदियों में बाढ़ आना, पृथ्वी में पानी का सोखना, वनस्पतियों की उत्पत्ति, सागर का विस्तार, सागर में जीवों की
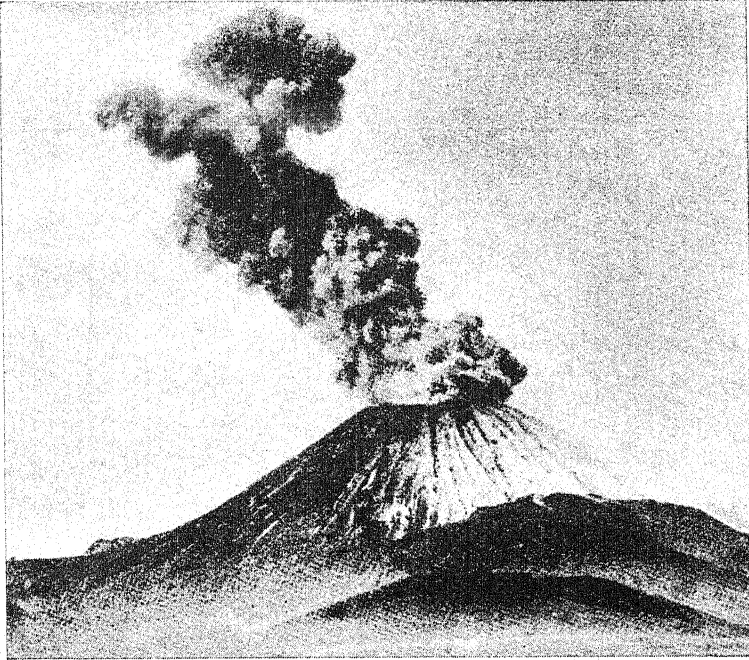
पृथ्वी के गर्भ-प्रदेश में स्थित प्रकृति के कारख़ाने की एक चिमनी
यह न्यूज़ीलैंड के एक ज्वालामुखी का फ़ोटो है। ये ज्वालामुखी गर्म लावा और गैसें उगल-उगलकर पृथ्वी के अंतस्तल में होनेवाली 'गुप्त क्रिया-प्रक्रिया' का संकेत किया करते हैं।
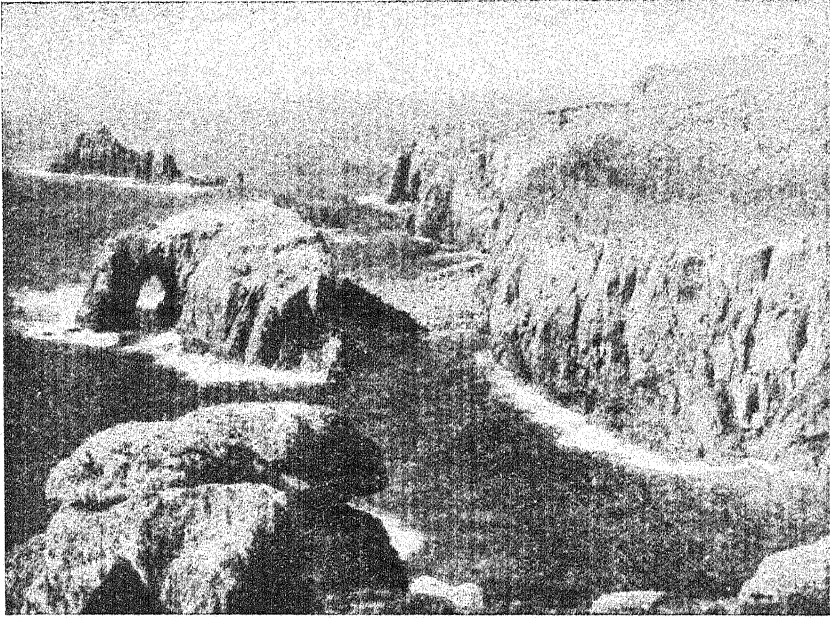
धरातल के परिवर्त्तन में समुद्र का क्रान्तिकारी प्रभाव

समुद्र लहरों के द्वारा लगातार तट की भूमि को काट-काटकर अपना विस्तार बढ़ाने में प्रयत्नशील रहता है। इस चित्र में प्रदर्शित पानी के बीच के भूखण्ड समुद्र की इसी क्रिया के फलस्वरूप मुख्य भूभाग से अलग हो गए हैं।

तीसरी श्रेणी की घटनाएँ वे हैं, जिन्हें हम 'गुप्त घटनाओं' के नाम से पुकार सकते हैं। ये घटनाएँ अधिकतर पृथ्वी और समुद्र के गर्भ में घटित होती हैं, और इसीलिए हम इन्हें देख सकने में असमर्थ हैं। परन्तु इनका प्रभाव इतना भीषण होता है कि उससे पृथ्वी के छिप्पड़ का रूप ही बदल जाता है। इन घटनाओं के प्रभाव से पृथ्वी पर समुद्र के स्थान में आकाशचुम्बी पर्वतों का उठ खड़ा होना और सूखी भूमि के स्थान पर गहरे जल-गर्त्त बन जाना साधारण-सी बात है।

उत्पत्ति और विनाश, मूँगे आदि का जन्म, टापुओं का बनना आदि-आदि हज़ारों घटनाएँ ऐसी हैं, जो हमारे लिए यद्यपि साधारण हैं, तथापि इनका भूतत्त्विक प्रभाव अत्यन्त गम्भीर है।

पृथ्वी पर होनेवाली दूसरे प्रकार की घटनाएँ वे हैं, जिन्हें हम 'आकस्मिक घटनाओं' के नाम से पुकार सकते हैं। इस श्रेणी के अन्तर्गत वे घटनाएँ आती हैं, जो पृथ्वी पर कभी-कभी घटित होती हैं, और अपना गहरा प्रभाव सदैव के लिए छोड़ जाती हैं। भूकम्प, ज्वालामुखी का विस्फोट, भीषण तूफ़ानों और आँधियों का आना आदि इसी श्रेणी की घटनाओं में सम्मिलित हैं।

इन तीनों प्रकार की घटनाओं के फलस्वरूप ही पृथ्वी पर निरन्तर परिवर्त्तन होते रहते हैं। ये परिवर्त्तन कई रूप में होते हैं। प्रथम प्रकार की घटनाओं का सबसे महत्त्वपूर्ण
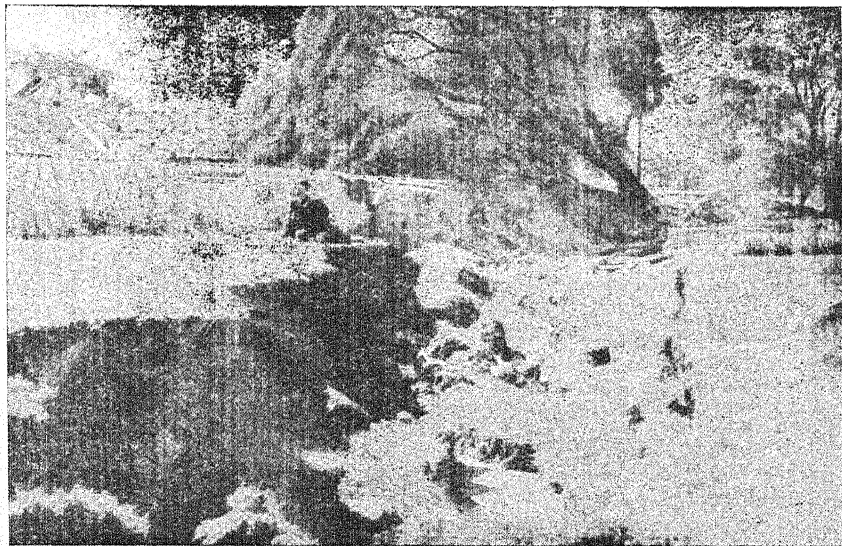
भूकंप द्वारा होनेवाले परिवर्त्तन का एक दृश्य

यह मुजफ़्फ़रपुर के कलक्टर के बँगले की जमीन का दृश्य है, जो पिछले बिहार-भूकंप में ७ फ़ीट नीचे धँस गई थी!

धरातल के परिवर्त्तन में आँधी का हाथ

इस चित्र में रेगिस्तान का एक दृश्य है, जहाँ आँधी के कारण बालू एक स्थान से दूसरे स्थान को उड़ती रहती है और इसके कारण बड़े-बड़े टीले बन जाते हैं।

प्रभाव है, 'पृथ्वी के चिप्पड़ का घिसना'। जल इसका प्रमुख कार्यकर्त्ता है। जल के विभिन्न रूपों द्वारा पृथ्वी निरन्तर घिसती जाती है। वर्षा के रूप में जल पृथ्वी पर आता है, और फिर नदी, नाले, झीलों, झरनों, सोतों, गरम पानी के प्राकृतिक फ़व्वारों आदि के रूप में अथवा बर्फ़, ओस, पाला आदि के रूप में परिवर्त्तित होकर अपनी लीला आरम्भ करता है। जल की लीला का पूरा दिग्दर्शन हम आगे के प्रकरणों में विस्तारपूर्वक करायेंगे, यहाँ तो हम केवल उसके प्रभाव का आभास-मात्र दे रहे हैं। अपने प्रत्येक रूप में जल पृथ्वी पर दो कार्य करता दिखाई देता है। एक तो वह पृथ्वी को घिसता है और फिर उस छीलन को ले जाकर समुद्र में जमा करता है। इसके फलस्वरूप बड़े-बड़े पर्वत कट-कटकर समुद्र में जमा होते जाते हैं, और समुद्र की तह में इस छीलन द्वारा नई शिलाओं का निर्माण होता है। जल के द्वारा पृथ्वी पर जो परिवर्त्तन होते हैं, उनमें नदियों की उत्पत्ति, घाटियों का

धरातल के परिवर्त्तन में जीव-जंतुओं का हाथ

पृथ्वी के चिप्पड़ के उलट-फेर में न केवल जड़ प्रकृति किंतु चेतन जीव-जंतुओं का भी हाथ है। मूँगे (coral) नामक जंतु ही को लीजिए। इस सूक्ष्म जल-जंतु की करामात से समुद्र में कई नवीन टापू बन गये हैं। इस चित्र में ऑस्ट्रेलिया के पूर्वीय तट के समानांतर फैले हुए ऐसे ही द्वीपों की हजारों मील लंबी शृंखला का एक भाग दिखाया है।
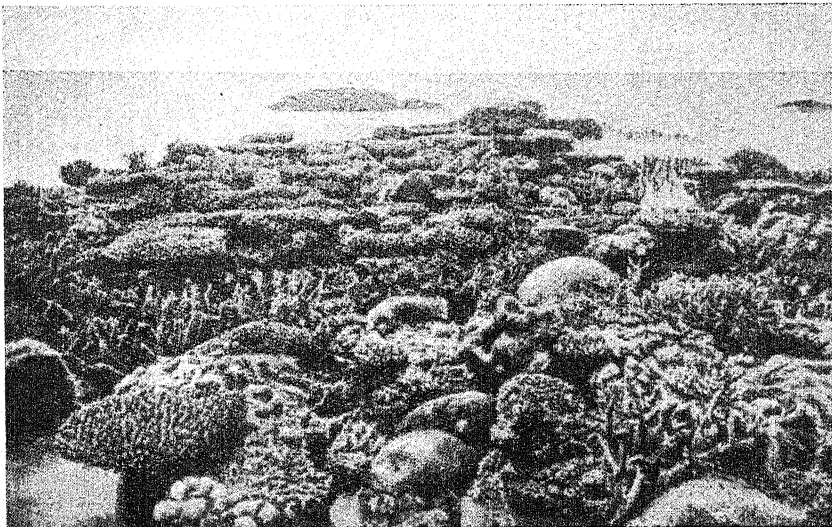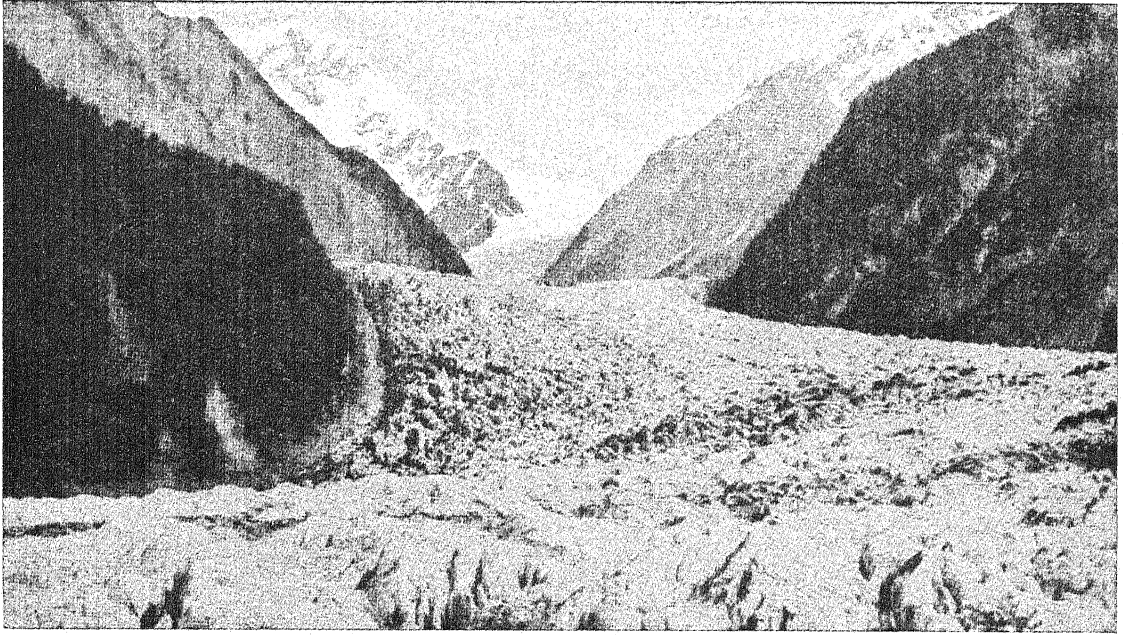
हिमानी या ग्लेशियर का रोमांचकारी दृश्य

यह हिमानी या ग्लेशियर क्या होता है ? बर्फ़ीली शिलाओं का एक हहराता हुआ भीषण नद जो पर्वत-शिखरों से धीरे-धीरे खसकता हुआ नीचे की ओर बढ़ता जाता है और राह की कठोर शिलाओं को चकनाचूर करता या बहाता हुआ आगे बढ़कर गङ्गा-जैसी विशाल नदी में परिणत हो जाता है ।

निर्माण, पर्वतों का छिन्न-भिन्न होना, वनस्पति की उत्पत्ति और चट्टानों का विध्वंस आदि सम्मिलित हैं ।

जल की भाँति ही प्रथम श्रेणी की अन्य घटनाओं का भी प्रभाव पृथ्वी की रचना पर दो प्रकार का पड़ता है—प्रथम तो वर्तमान चिप्पड़ का विनाश और दूसरा चिप्पड़ के नये अवयवों का निर्माण । विनाश और निर्माण की क्रिया निरन्तर साथ-साथ चलती रहती है । जब हम इन घटनाओं के विनाशकारी प्रभाव का अध्ययन करते हैं, तब उनके निर्माणकारी प्रभाव का भी ध्यान रखना पड़ता है ।

दूसरी श्रेणी की घटनाएँ जिन्हें हम 'आकस्मिक घटनाओं' के नाम से पुकार चुके हैं, वास्तव में तीसरी श्रेणी की घटनाओं अर्थात् 'गुप्त घटनाओं' के प्रत्यक्ष रूप हैं । गुप्त घटनाएँ पृथ्वी और समुद्रों के गर्भ में होती हैं, परन्तु आकस्मिक घटनाएँ पृथ्वी के ऊपर दिखाई पड़ती हैं । कोई दिन ऐसा नहीं जाता, जिस दिन पृथ्वी के किसी-न-किसी भाग में भूकम्प का धक्का न लगता हो । भूकम्प कैसे और क्यों आते हैं, इसका वर्णन हम आगे विस्तारपूर्वक करेंगे । भूकम्प और ज्वालामुखी द्वारा पृथ्वी पर कैसे-कैसे अनर्थ होते हैं, इसको प्रत्येक मनुष्य जानता है । इन घटनाओं के फलस्वरूप पृथ्वी की रचना में भी महान् परिवर्तन हो जाते हैं । नदियों के मार्ग बदल जाना, भूमि का नीचा-ऊँचा हो जाना, समुद्र के स्थान पर सूखा देश और पहाड़ों के स्थान पर सागर हो जाना, आदि परिवर्तन इन्हीं घटनाओं के फलस्वरूप होते हैं ।

गुप्त रूप से होनेवाली घटनाएँ पृथ्वी की रचना में क्रान्ति उत्पन्न करती हैं । ये घटनाएँ अदृश्य हैं, परन्तु इनका प्रभाव महान् है । इनमें भी हम तीन श्रेणी बना सकते हैं । एक तो वे जिनके फलस्वरूप ज्वालामुखी भड़कते हैं, भूचाल आते हैं और पृथ्वी के गर्भ से आग्नेय शिलाखण्डों की उत्पत्ति होती है । पृथ्वी के गर्भ से निकलनेवाली खनिज सम्पत्ति इन्हीं के फलस्वरूप जन्म लेती है ।

गुप्त घटनाओं की दूसरी श्रेणी वह है जो पृथ्वी की रचना में भूमि और सागरतल को नीचा-ऊँचा दायें-बायें उठाती-बैठाती और हटाती रहती है । इस क्रिया का नाम डायस्ट्राफ़िज़्म (Diastrophism) है । इस क्रिया का परिणाम हमें पृथ्वी की रचना के इतिहास में कई स्थलों पर दिखाई पड़ता है । पृथ्वी की रचना का इतिहास बताता है कि लगभग सभी महाद्वीप (भूमिखण्ड) एक न एक

समय सागर के भीतर डुबकी लगा चुके हैं। सागर में डूबना और डूबकर फिर भूमिखण्ड के रूप में निकल आना अधिकतर भूमिखण्ड के दबने और उठने के परिणाम-स्वरूप हुआ है, समुद्र की सतह के घटने-बढ़ने से नहीं। आगे किसी अध्याय में हम बतायेंगे कि भूमि का उठना और दबना आज भी निरन्तर होता रहता है। ये घटनाएँ ऐसी हैं जिनका प्रभाव महाक्रान्तिकारी है तथापि इनको हम देख नहीं सकते।

डायस्ट्राफ़िज़्म अर्थात् भूखण्डों का असमतल उठना और बैठना तथा इधर-उधर खसकना दो प्रकार का होता है। एक तो पर्वत-निर्माणकारी और दूसरा भूखण्ड-निर्माण-कारी। प्रथम में प्रस्तरशिलाएँ दबाव पड़ने से टूट या मुड़ जाती हैं और ऊपर उठ जाती हैं। इस दबाव का प्रभाव शिलाओं के पतले पर्तों पर अधिक पड़ता है। दूसरे अर्थात् भूखण्ड-निर्माणकारी का अर्थ है, पृथ्वी के भूखण्डों का सागर के जल में विलुप्त हो जाना अथवा सागर से निकल-कर नये भूखण्डों के रूप में प्रकट होना। बड़े-बड़े भूखण्डों का कई भूखण्डों में विभाजित होना और छोटे भूखण्डों का मिलकर एक विशाल भूखण्ड बन जाना भी इसी प्रकार की घटना के अन्तर्गत आता है। पर्वत-निर्माणकारी घटनाओं के फलस्वरूप पृथ्वी में न केवल नये पर्वत बनते हैं, वरन् पुराने पर्वतों की शिलाओं की श्रेणियाँ विश्रृंखल हो जाती हैं, टूट-फूट जाती हैं, मरोड़ें खा जाती हैं अथवा लचक जाती हैं। भूखण्ड-निर्माणकारी घटनाओं के फलस्वरूप न केवल भूखण्ड ही स्थिर हैं, वरन् समुद्रतल अथवा समुद्र की सीमा भी स्थिर-सी रहती है। एक विशेष बात इन घटनाओं के सम्बन्ध में भी यही है कि इनका परिणाम अथवा प्रभाव वर्ष-दो वर्ष के भीतर तनिक भी नहीं ज्ञात हो सकता। युग बीत जाते हैं और इन घटनाओं के प्रभाव को लोग समझ नहीं पाते। जब पृथ्वी की रचना में कोई क्रान्ति-कारी परिवर्तन होता है, तभी हमारा ध्यान उसके कारण की ओर जाता है और उस समय हम इन घटनाओं के गुप्त प्रभाव की ओर आकर्षित होते हैं।

डायस्ट्राफ़िज़्म का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव पृथ्वी की रचना में यह पड़ता है कि पृथ्वी की सतह सदैव अनियमित बनी रहती है, भूखण्ड पृथ्वी से नष्ट नहीं हो पाते। अन्यथा भूखण्डों को सागर का जल आज तक कभी का रगड़-रगड़-कर मिटा चुका होता और पृथ्वी के ऊपर आज एक सर्व-व्यापक असीमित सागर फैला होता।

पृथ्वी की रचना पर प्रभाव डालनेवाली गुप्त घटनाओं में एक महत्त्वपूर्ण क्रिया वह है, जिसे 'आइसास्टेसी' (Isostasy) अथवा 'समतुलन' के सिद्धान्त द्वारा समझाया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वीतल के असमतल भाग, अर्थात् बड़े-बड़े भूखण्ड, आदि अनियमित और स्वतंत्र क्रियाओं के फलस्वरूप नहीं बन गये हैं, वरन् नियमानुकूल सिद्धान्तों के अनुसार बने हैं और इसी के कारण टिके हैं। पृथ्वी के ये असमतल भाग उसके चिप्पड़
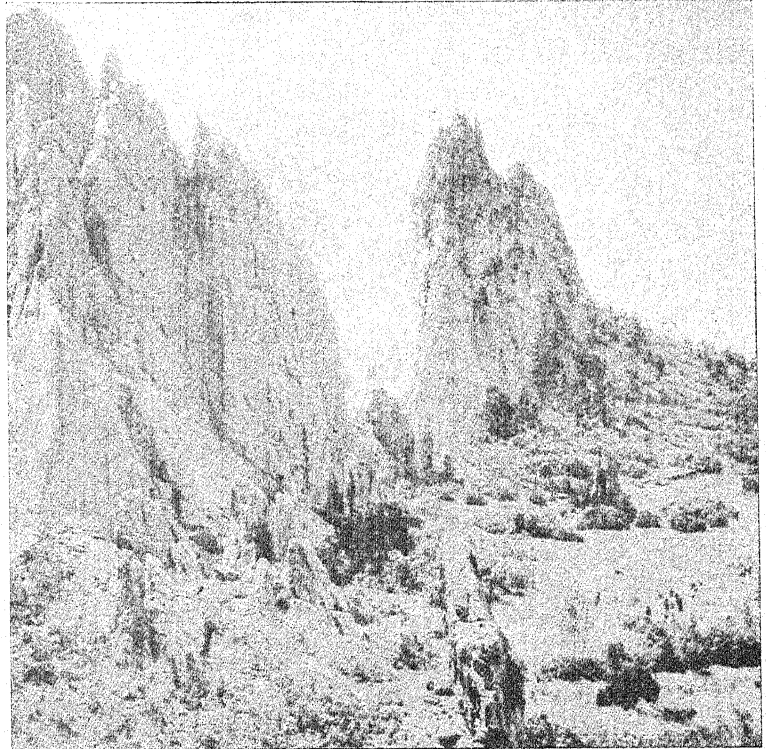
धरातल के परिवर्तन में वायु और सूर्य-प्रकाश का संमिलित प्रभाव

यह अमेरिका के कॉलोरेडो प्रदेश के जर्जरीभूत पर्वत-शृङ्गों का दृश्य है। इस प्रदेश में वर्षा बिलकुल नहीं होती, आँधी और सूर्य की किरणों के प्रभाव से ही ये पर्वतखण्ड घिस-घिसकर इस प्रकार जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं।

के साथ जुड़े हुए नहीं हैं और न उसके कारण ये टिके हैं। वरन् ये भाग पृथ्वी के चिप्पड़ के नीचे के पदार्थ पर उसी प्रकार तैरते हैं, जैसे शहद में मक्खी। चिप्पड़ के नीचे का पदार्थ इस्पात की भाँति कठोर है तथापि भूगर्भ की क्रियाओं के फलस्वरूप उसको भी विचलित होना पड़ता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार पर्वतों के नीचे का पदार्थ समुद्रतल के नीचे के पदार्थ की अपेक्षा हलका है। भूतल के नीचे ४० मील की गहराई के ऊपरवाले समान क्षेत्रफल के भूखण्डों का भार बराबर है, चाहे ऊँचाई-नीचाई में उनमें सहस्रों मील का अन्तर हो। पृथ्वी पर भूखण्ड के दो पड़ोसी टुकड़ों में एक पर विशाल पर्वत खड़ा हो और दूसरे में गहरी खाई हो, पर यदि दोनों बराबर क्षेत्रफल के टुकड़ों पर बने हैं, तो उनका भार समान होगा, यही आईसास्टेसी का सिद्धान्त है।

'समतुलन' के सिद्धान्त से भूखण्डों का नीचे-ऊपर बैठना-उठना तथा सागर के स्थान में पर्वतों का निकलना हमारी समझ में बड़ी सरलता से आ जायगा। पृथ्वी का जो भाग घिस-घिसकर हलका हो जायेगा, वह ऊपर उठता जायगा और जहाँ पर सदैव पृथ्वी के चिप्पड़ की छीजन जमा होगी, वह भारी होकर नीचे बैठ जायगा। यही कारण है कि समुद्र में ठोस पदार्थों का करोड़ों मन बोझा महीन छीलन के रूप में जाकर नित्य जमा होता है, तथापि वह भरने में नहीं आता। जो पदार्थ उसकी तलहटी में जमा होते हैं, वे अपने भार से तलहटी को नीचे दबाते जाते हैं। इसी सिद्धान्त के बल पर वैज्ञानिकों का कथन है कि हिमालय पर्वत आज भी ऊपर उठ रहा है। प्रकृति के दूत यद्यपि पर्वतों को नित्य काट-काटकर छोटा करने में व्यस्त रहते हैं तथापि वे हलके होकर ऊपर ही उठते जाते हैं।

ऊपर हमने पृथ्वी पर होनेवाली निरन्तर घटनाओं और उनके प्रभाव से पृथ्वी की रचना में होनेवाले परिवर्त्तनों की ओर अपने पाठकों का ध्यान दिलाया है। यहाँ न हमने उन घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, और न यह दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार ये घटनाएँ परिवर्त्तन उत्पन्न करती हैं। वास्तव में प्रत्येक क्रिया पृथ्वी के प्रत्येक भाग में एक ही-सा प्रभाव नहीं उत्पन्न करती। इसका कारण पृथ्वी के चिप्पड़ के विभिन्न भागों की बनावट की विभिन्नता है। इसलिए विभिन्न क्रियाओं के प्रभाव को समझने के लिए आवश्यक है कि पृथ्वी के चिप्पड़ की बनावट को हम समझ लें। अगले अध्याय में पृथ्वी के चिप्पड़ की बनावट का अध्ययन करने की चेष्टा की जायगी।
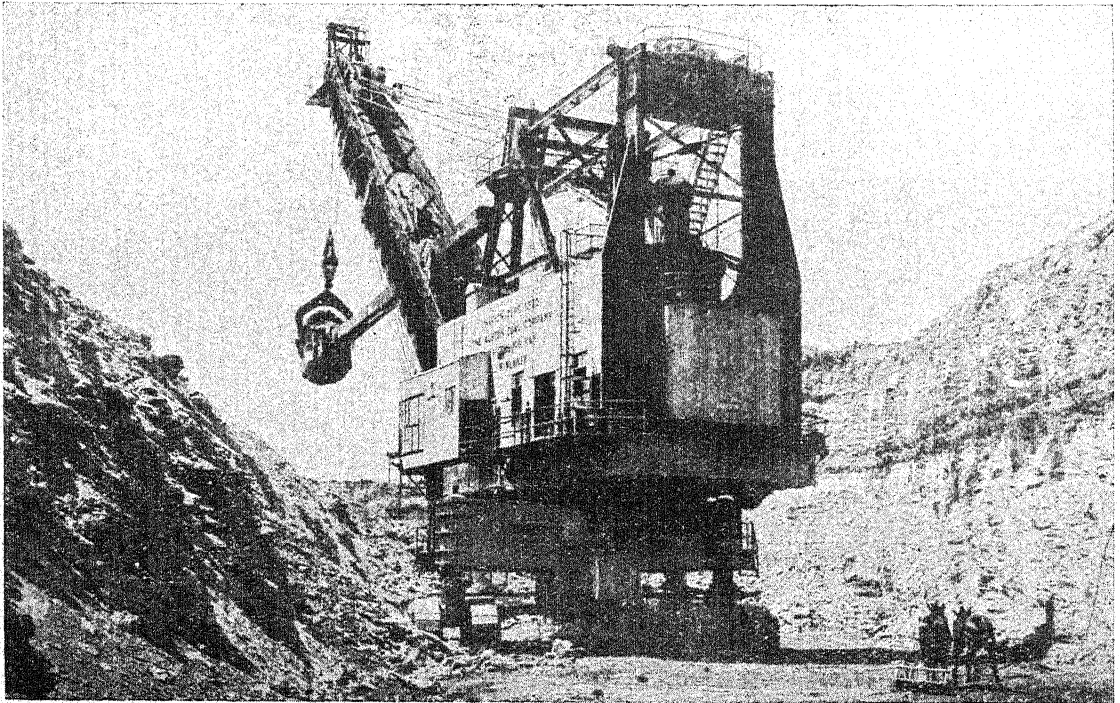
खानों की खुदाई, नहरों की रचना, सड़कों का निर्माण आदि द्वारा धरातल के परिवर्त्तन में मनुष्य का हाथ
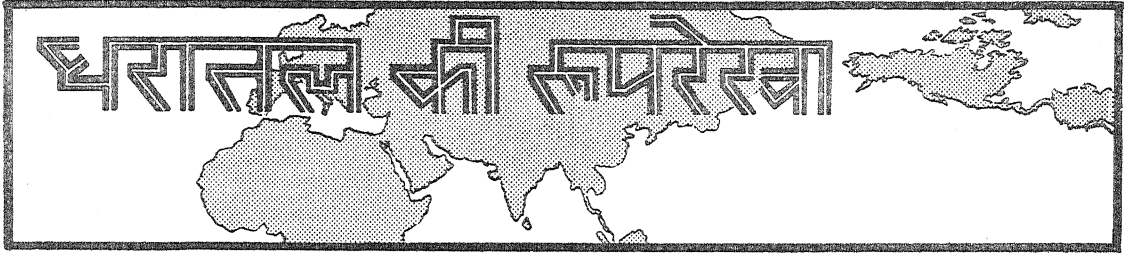
पृथ्वी का परिभ्रमण

पिछले परिच्छेद में हम इस बात को जान चुके हैं कि पृथ्वी गोल है। इस प्रकरण में यह बताया गया है कि वह स्थिर नहीं है, बल्कि लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूमते हुए नियत कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करती रहती है। भूगोल के अध्ययन के लिए पृथ्वी के इस परिभ्रमण का हाल जानना आवश्यक है, क्योंकि रात और दिन, सर्दी और गर्मी आदि इसी के फलस्वरूप होते हैं।

हमारी पृथ्वी स्थिर नहीं है। वह सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण किया करती है। सूर्य की परिक्रमा के साथ-ही-साथ पृथ्वी अपनी काल्पनिक धुरी पर भी सदैव घूमती रहती है। पृथ्वी के अपने ही चारों ओर घूमने की चाल को 'आवर्त्तन' (Rotation) अथवा उसकी 'दैनिक गति' कहते हैं, क्योंकि पृथ्वी अपने चारों ओर घूमने में एक दिन और रात का समय लेती है। सूर्य के चारों ओर घूमने की गति को 'परिभ्रमण' (Revolution) या 'वार्षिक गति' कहते हैं, क्योंकि इस परिक्रमा को पूरा करने में एक वर्ष व्यतीत होता है।

एक समय था, जब लोगों का विश्वास था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य तथा आकाश का सारा नक्षत्रमण्डल ही पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। इसी कारण रात और दिन होते हैं। परन्तु धीरे-धीरे लोगों की यह धारणा बदल गई। उनकी समझ में आ गया कि जिस प्रकार चलती हुई रेलगाड़ी में बैठे मनुष्य को रेलगाड़ी के बदले किनारे की भूमि चलती हुई प्रतीत होती है, उसी प्रकार पृथ्वी के चलते रहने पर भी यही प्रतीत होता है कि सूर्य चलता है।

पृथ्वी का घूमना सिद्ध करने के लिए 'जिरोस्कोप' नामक यंत्र की सहायता ली जाती है। इस यंत्र की यह विशेषता है कि यदि उसकी कीली किसी तारे की ओर कर दी जाय और उसी की सीध में पृथ्वी के दूसरे पदार्थ रक्खे जायँ, तो पृथ्वी के घूम जाने से इन पदार्थों की दिशा बदल जायगी, परन्तु कीली बराबर उसी तारे की ओर रहेगी।

सूर्य पूर्व में निकलता और पश्चिम में अस्त होता प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में हमारी पृथ्वी ही अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है। पृथ्वी की यह धुरी एक काल्पनिक रेखा मानी जाती है, जो पृथ्वी के केन्द्र से होकर उसके उत्तरी और दक्षिणी चिपटे सिरों को मिलाती है। पृथ्वी का अनुरूप 'ग्लोब' (Globe) इसी कल्पित धुरी पर घूमता दिखाया जाता है। पृथ्वी समान गति से इस धुरी पर निरन्तर घूमती है। परन्तु गोलाकार होने के कारण पृथ्वी के सब भागों के घूमने की गति की तेज़ी एक सी नहीं है। धुरी के निकटवाले भागों की अपेक्षा धुरी से दूर-वाले भाग कहीं अधिक वेग से घूमते हैं। पृथ्वी के मध्य के धरातल पर घूमने का वेग सबसे अधिक अर्थात् १००० मील प्रति घण्टे से भी ऊपर है। मध्य के उत्तर या दक्षिण के भागों में यह वेग धीरे-धीरे कम हो जाता है। ठीक उत्तरी और दक्षिणी सिरों पर पृथ्वी स्थिर प्रतीत होती है, क्योंकि उन स्थानों में घूमने का वेग नहीं के बराबर है। किसी लट्टू अथवा ग्लोब को उसकी धुरी पर घुमाने से उपरोक्त बातें समझने में सहायता मिलती है।

ग्लोब को देखने से एक विशेष बात यह मालूम होती है कि ग्लोब की धुरी सीधी नहीं है, वरन् एक ओर को झुकी हुई है। वास्तव में पृथ्वी की काल्पनिक धुरी भी ग्लोब की धुरी की भाँति एक ओर को झुकी रहती है। पृथ्वी की धुरी का पृथ्वी के परिक्रमा-पथ से सदैव ६६½° कोण का झुकाव रहता है। यदि वह झुकी न होती, तो परिभ्रमण के मार्ग से सदैव समकोण बनाती।

पृथ्वी और सूर्य का सम्बन्ध बड़े महत्त्व का है। पृथ्वी सूर्य की निरन्तर परिक्रमा किया करती है। पृथ्वी की परिक्रमा का मार्ग निश्चित है। पृथ्वी यद्यपि सूर्य के चारों ओर घूमती है तथापि उसकी यात्रा का मार्ग पूर्ण वृत्त नहीं है।
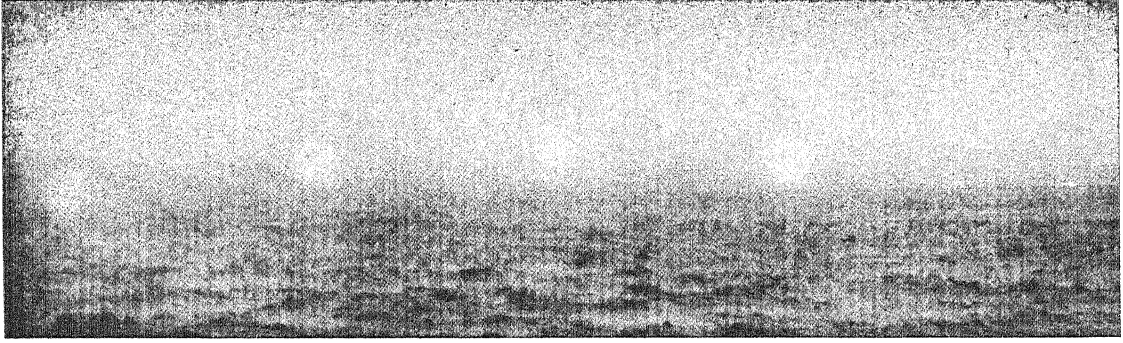
यह अद्भुत फ़ोटोग्राफ़ उत्तरी अमेरिका के अलास्का प्रदेश में लगभग ६४ डिग्री अक्षांश के एक स्थान से दिसंबर २८ को लिया गया था। केमैरा का रुख़ दक्खिन की ओर था और चार घंटे तक वह एक ही स्थान में रक्खा गया था। एक ही निगेटिव प्लेट पर क्रमशः १०,११,१२,१ और २ बजे दिन को ५ फ़ोटो लिये गये थे। इस फ़ोटो में स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि किस प्रकार सूर्य उदय हुआ और धीरे-धीरे आकाश में चढ़कर अंत को अस्त हो गया। वास्तव में सूर्य एक स्थिर नक्षत्र है। हमें उसके परिभ्रमण का जो भ्रम होता है वह पृथ्वी की गति के कारण ही है। दिसंबर में अलास्का में केवल ४ घंटे का दिन होने का कारण पृथ्वी की धुरी का झुकाव है।

वह एक प्रकार का दीर्घ वृत्त (ellipse) बनाती है, जिसके केन्द्र पर सूर्य स्थित है। इस पथ की यात्रा पूरी करने में पृथ्वी को ३६५¼ दिन लगते हैं। इस काल को हम वर्ष कहते हैं। परन्तु वर्ष में ३६५ दिन ही माने जाते हैं। शेष ¼ दिन जोड़कर प्रति चौथे वर्ष में एक दिन बढ़ा दिया जाता है और वह वर्ष ३६६ दिन का माना जाता है।

पृथ्वी को गरमी और प्रकाश दोनों सूर्य से ही मिलते हैं। पृथ्वी की गति और उसके झुकाव के कारण धरातल के विभिन्न भागों में प्रकाश और गरमी दोनों की दशा सदा बदलती रहती है। सूर्य स्थिर है, इसलिए प्रकाश और गरमी का मार्ग भी स्थिर है। परन्तु पृथ्वी के निरन्तर घूमते रहने के कारण धरातल के किसी भी भाग में न सदैव प्रकाश रहता है और न सदैव अंधकार। जो भाग सूर्य के सामने आ जाता है, अर्थात् जहाँ सूर्य का प्रकाश पड़ता है, वहाँ 'दिन', और जो भाग सूर्य के सामने नहीं होता, वहाँ 'रात' होती है।

पृथ्वी अपनी धुरी पर २४ घंटे में पूरा चक्कर लगा लेती है। इस काल में धरातल का प्रत्येक भाग एक बार सूर्य के सामने आकर फिर छिप जाता है। अर्थात् धरातल पर एक बार दिन और एक बार रात होती है। रात और दिन दोनों को मिलाकर २४ घंटे का समय होता है। परन्तु रात और दिन सदा बराबर नहीं होते। वे घटते-बढ़ते रहते हैं। हम जानते हैं कि हमारे देश में जाड़ों में रात बड़ी और दिन छोटा होता है। फिर जैसे-जैसे गरमी आती जाती है, दिन बढ़ने लगता है और रात छोटी होने लगती है।

रात और दिन पृथ्वी के आवर्त्तन (Rotation) के परिणामस्वरूप होते हैं। रात और दिन के घटने-बढ़ने का कारण पृथ्वी की परिक्रमा और उसकी धुरी का झुकाव होना ही है। पृथ्वी का परिक्रमा-मार्ग पूर्ण वृत्त नहीं है, इस कारण इस मार्ग में दो स्थान ऐसे हैं, जहाँ आने पर पृथ्वी सूर्य के सबसे अधिक समीप हो जाती है, और दो स्थान ऐसे हैं, जो सूर्य से परिक्रमा-मार्ग के अन्य स्थानों की अपेक्षा सबसे अधिक दूर हैं। २१ मार्च और २३ सितम्बर की तिथियों के दिन पृथ्वी सूर्य के सबसे निकटवाली स्थिति में तथा २१ जून और २१ दिसम्बर के दिन सबसे अधिक दूर होती है (दे० पृष्ठ २८९ का चित्र)।

पृथ्वी की इन स्थितियों के फलस्वरूप धरातल पर सूर्य से आनेवाले प्रकाश और गरमी में अन्तर पड़ जाता है। जब पृथ्वी सूर्य के निकटवाली स्थिति में आ जाती है, उस समय अर्थात् २१ मार्च और २३ सितम्बर को पृथ्वी का प्रत्येक भाग २४ घंटे में सूर्य के सामने आ जाता है और सूर्य ठीक भूमध्य-रेखा के ऊपर होता है। इन अवस्थाओं में पृथ्वी के प्रत्येक भाग में दिन और रात बराबर होते हैं। इन दिनों को क्रमशः 'वसंत संपात' (Vernal Equinox) और 'शरद संपात' (Autumnal Equinox) कहते हैं।

पृथ्वी की परिक्रमा के मार्ग के जो दो स्थान सबसे अधिक दूर हैं, उन पर पृथ्वी क्रमशः २१ जून और २१ दिसम्बर को पहुँचती है। ये स्थान ऐसे हैं कि यहाँ पृथ्वी की धुरी के झुकाव के कारण उसका कुछ भाग बराबर

२४ घण्टे तक सूर्य के प्रकाश में रहता है और कुछ भाग पूर्ण अंधकार में। २१ जून को पृथ्वी का उत्तरी सिरा बराबर सूर्य के प्रकाश में रहता है, इसलिए वहाँ पर चौबीसों घंटे दिन रहता है। परन्तु इस दिन पृथ्वी का दूसरा छोर इस प्रकार पीछे की ओर झुका रहता है कि वहाँ पर सूर्य की किरणें पहुँच ही नहीं पातीं और वहाँ पूर्ण अंधकार अर्थात् चौबीसों घण्टे रात होती है।

पृथ्वी की इस स्थिति में धरातल के जिन स्थानों पर सूर्य ठीक सिर पर चमकता है, यदि उनको एक रेखा के द्वारा मिलाया जाय, तो जो वृत्त बनेगा, उसे 'कर्क रेखा' (Tropic of Cancer) के नाम से पुकारते हैं। कर्क रेखा से पृथ्वी के उत्तरी छोर की ओर ज्यों-ज्यों जायँ, त्यों-त्यों दिन बड़ा होता जाता है और ठीक छोर पर पहुँचने पर २४ घंटे का होता है। यदि कर्क रेखा से दक्षिण छोर की ओर चला जाय, तो दिन छोटा और रात बड़ी होती है। भूमध्य-रेखा पर पहुँचने से रात और दिन बराबर हो जाते हैं। इस समय अर्थात् २१ जून के लगभग दक्षिण छोर पर रात २४ घण्टे की होती है।

पृथ्वी की वार्षिक गति और ग्रीष्म तथा शीत अयन-विन्दु

२१ दिसम्बर को पृथ्वी का उत्तरी छोर बिल्कुल अँधेरे में रहता है और वहाँ पर २४ घण्टे की रात होती है। इस स्थिति में जिन स्थानों पर सूर्य ठीक ऊपर होता है, उनको मिलानेवाली रेखा को 'मकर-रेखा' (Tropic of Capricorn) कहते हैं। इस समय दक्षिणी छोर पर २४ घंटे का दिन होता है, क्योंकि उस समय वह भाग बराबर सूर्य के सामने रहता है। पृथ्वी की इस दशा में हम दक्षिणी छोर से जितना ही उत्तर की ओर हटते जायँगे दिन उतना ही छोटा और रात बड़ी होती जायेगी। परन्तु पृथ्वी के मध्य-भाग पर इस समय भी दिन और रात बराबर होंगे। २१ दिसम्बर और २१ जून की पृथ्वी की स्थिति को क्रमशः "शीत-अयन-बिन्दु" (Winter Solstice) तथा 'ग्रीष्म-अयन-बिन्दु' (Summer Solstice) कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथ्वी की धुरी के झुके होने से रात और दिन छोटे और बड़े होते हैं। यदि हम आकाश में सूर्य के निकलने और अस्त होने की जगहों को कई दिन तक ध्यान से देखें, तो हमें यही पता चलेगा कि वे जगहें रोज़-रोज़ बदलती हैं। ज्यों-ज्यों गरमी की ऋतु आती है, और दिन बड़े होने लगते हैं, त्यों-त्यों सूर्योदय का स्थान धीरे-धीरे उत्तर-पूर्व की ओर हटता जाता है। जाड़े में इसके विपरीत दक्षिण-पश्चिम की ओर सूर्योदय होता है। इसका कारण यही है कि पृथ्वी अपना स्थान प्रतिदिन बदलती रहती है। जिस स्थान से सूर्य हमें पिछले दिन दिखाई दिया था, दूसरे दिन उस स्थान से पृथ्वी आगे बढ़ जाती है।

पृथ्वी की दैनिक और वार्षिक गति के परिणाम-स्वरूप पृथ्वी पर सूर्य की किरणों द्वारा आनेवाली गरमी में भी हेर-फेर होता है। पृथ्वी की धुरी का झुकाव भी इस हेरफेर में सहायता पहुँचाता है।

जब रात से दिन अधिक बड़ा होता है, तब सूर्य की किरणों से हमें अधिक गरमी मिलती है। उस समय को हम 'ग्रीष्म-ऋतु' कहते हैं। इसके विपरीत जब दिन छोटा और रात बड़ी होती है, तब सूर्य से हमें कम गरमी मिलती है और रात को ठंढक होने लगती है। इस समय को हम 'शीत-ऋतु' या 'जाड़ा' कहते हैं।

पृथ्वी के सिरों के निकटवाले स्थानों पर गरमी में दिन अधिक बड़ा और जाड़े में रात अधिक बड़ी होती है। इसलिए उन स्थानों पर असाधारण गरमी या सर्दी पड़ती है।

इस प्रकार धरातल पर विभिन्न देशों की परिस्थितियों में हम जो अन्तर पाते हैं, उसका महान् कारण है पृथ्वी का 'परिभ्रमण' और 'आवर्त्तन'।
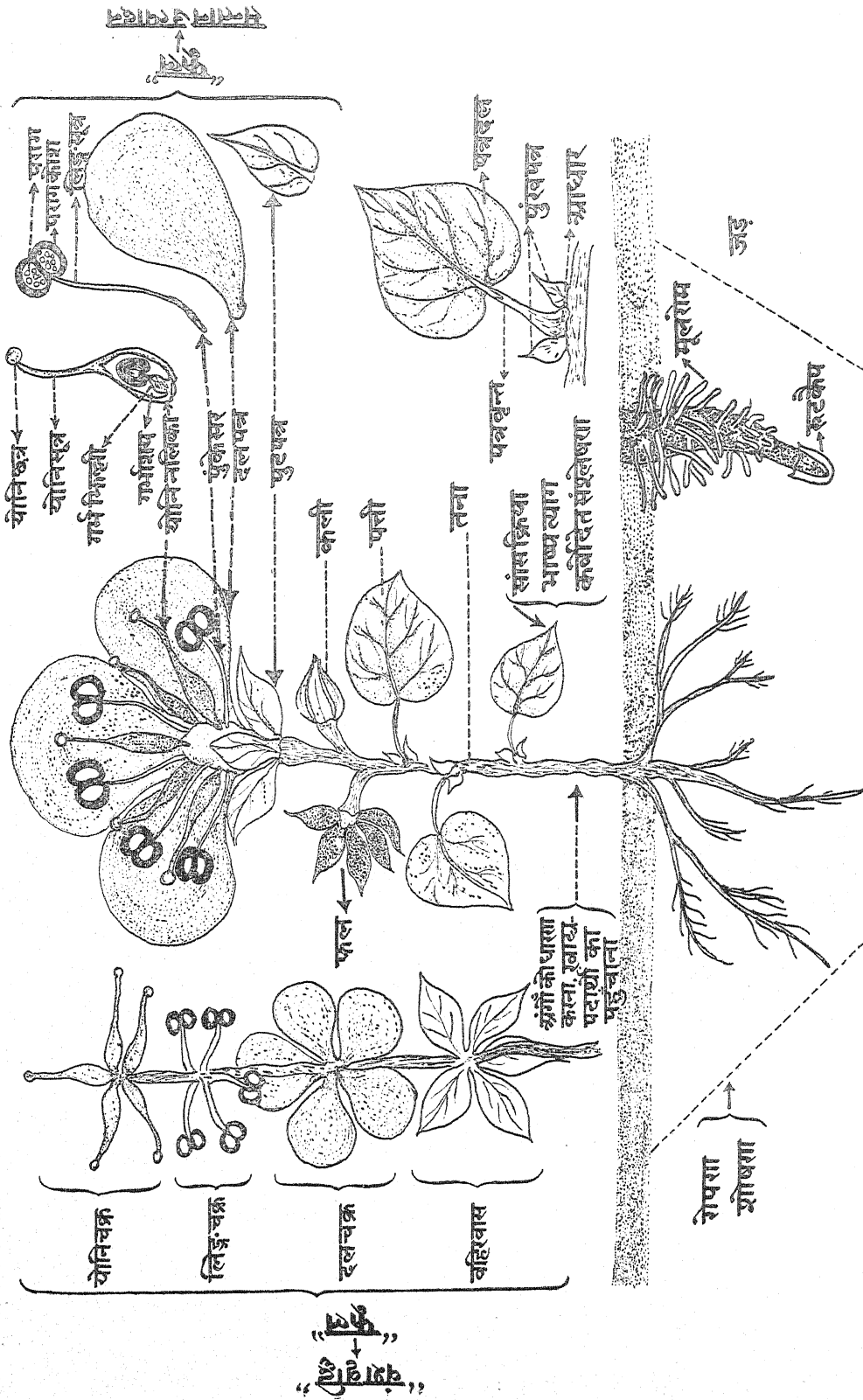
चित्र १—पौधे का अङ्ग-विधान
[चित्र—लेखक द्वारा ।]
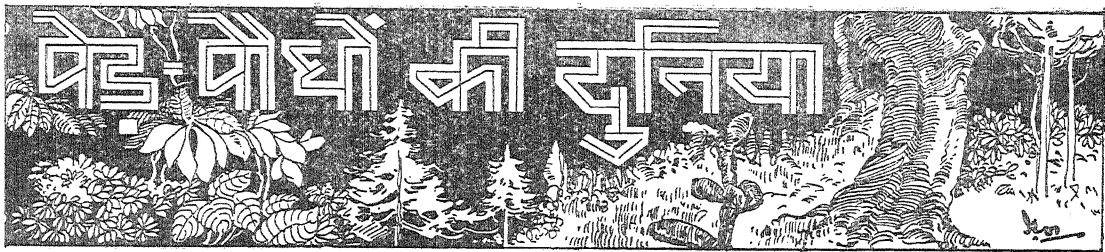
पौधे का अङ्ग-विधान

गत प्रकरण में हम वनस्पति-जगत् के विस्तार और उसके प्रधान अंगों का संक्षेप में पर्यावलोकन कर चुके हैं। इस लेख में पौधों की रचना और उनके अंगों का दिग्दर्शन किया गया है।

पिछले दो अध्यायों को पढ़कर आपको विदित हो गया होगा कि दुनिया में अनेक भाँति के उद्भिज हैं। इनकी बनावट और रहन-सहन की अनेक बातें जानने के लिए आप उत्सुक होंगे। इनके खान-पान, जीवन-मरण संबंधी कितने ही प्रश्न आपके हृदय में उठ रहे होंगे। काई और फफूँदी में भी जीव है, यह सुनकर कौन विस्मित न होगा! अमरबेल (*Cuscuta*) और तूँबिलता (Pitcher Plant) के आचरण पर किसे घृणा न उत्पन्न हो रही होगी! परोपजीवी पक्सिनिया (*Puccinia*) और बैक्टिरिया के प्रकोप की सम्भावना पर किसका चित्त अधीर हो विचार-सागर में ग़ोते न लगा रहा होगा! मतलब यह कि पेड़ों के विषय की कितनी ही बातें जानने के लिए आप उत्सुक होंगे। परन्तु इनकी चर्चा तभी की जा सकती है, जब हम पौधों की रचना और आकृति से भलीभाँति परिचित हों। इसलिए सबसे पहले हमको इसी की जाँच करनी चाहिए।

पौधे के अंग

हमारे हर काम के लिए शरीर में अलग-अलग अंग हैं। चलने-फिरने को पाँव, काम-काज के लिए हाथ, खाने-पीने के लिए मुँह और साँस लेने के लिए फेफड़े हैं। गाय-बैल, मोर, पपीहा, मेढक, मछली आदि के भी अलग-अलग अंग होते हैं; लेकिन आप देखते हैं कि कुछ जन्तु ऐसे भी हैं कि जिनमें अंग स्पष्ट नहीं होते। केंचुए को सभी ने देखा होगा। देखने में इसके नाक-कान और हाथ-पैर नहीं होते, लेकिन फिर भी इसके किसी भी काम में रुकावट नहीं होती। ऐसे ही और भी बहुत-से छोटे-छोटे जन्तु हैं, जिनमें अलग-अलग अंग दिखाई नहीं देते। पेड़-पौधों की भी ठीक यही दशा है। ऊँचे दरजे के पेड़ों में, जैसा कि आप देख चुके हैं, हरएक काम के लिए हमारे-आपके जैसे अंग हैं। इन्हें पृथ्वी में अंकुरित कर उसके बूँद-बूँद जल और कण-कण नमकों से आहार इकट्ठा करने को एक अंग है, तो इन अकार्बनिक (inorganic) वस्तुओं को हवा की कार्बोनिक ऐसिड गैस के कार्बन से मिलाकर सूर्य की किरणों की सहायता से माड़ी (Starch) और शक्कर (Sugar) में बदल कर अपने ही लिए नहीं, वरन् सारी दुनिया के लिए आहार तैयार करने के लिए दूसरा, और इनकी जाति को चिरस्थायी बनाकर दूर-दूर देशों में फैलाने के लिए तीसरा अंग है। सारांश यह कि इनमें जड़, तना, पत्ती, फूल, फल और
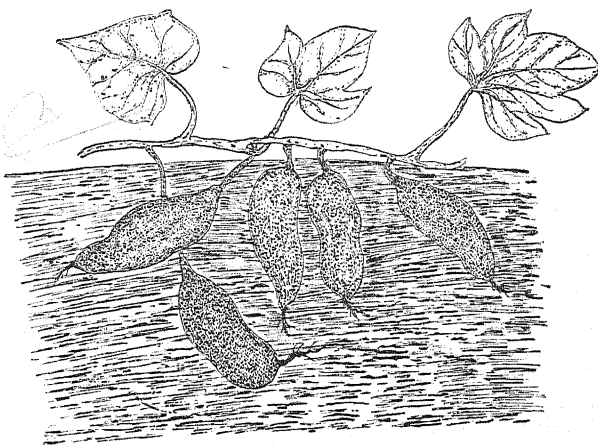
चित्र २—शकरकन्द
[चित्र—लेखक द्वारा]

बीज होते हैं, जिनके अलग-अलग काम हैं (दे० चि० १)। क्षुद्र जाति के जीवों की भाँति नीची कोटि के पेड़ों में भी प्रकट अंग नहीं होते। बैक्टिरिया तथा क्लैमाइडोमोनस *(Chlamydomonas)* की भाँति के एककोशीय (unicellular) जीवों में तो आहार-विहार की सारी क्रियायें अति सूक्ष्म जीवनमूल (Protoplasm) के बिन्दु के अन्दर ही होती हैं।

पौधे का पृथ्वी के अन्दर का भाग—"जड़" और उसके कर्त्तव्य

प्रायः सभी साधारण पेड़ों में कुछ भाग ज़मीन के अन्दर और कुछ ऊपर रहता है। ज़मीन के नीचे के भाग को 'जड़' कहते हैं। यह अन्दर-अन्दर दूर तक फैली रहती है (दे० चि० १)। जड़ों के अंतिम भाग पर 'मूल रोम' (Root hairs) होते हैं (दे० चि० १)। ये आसानी से दिखाई नहीं देते, खुर्दबीन से ही देखे जा सकते हैं। जड़ों के सिरे पर दरज़ी की अँगूठी-जैसी एक ढकनी होती है, जिसे रूट कैप (Root cap) कहते हैं (दे० चि० १)। यह जड़ के कोमल भाग की रक्षा करती है। मूल रोमों द्वारा जड़ें ज़मीन के अन्दर जल में घुले नमकों से खूराक खींचती हैं। पेड़ को ज़मीन में रोपना और उसके लिए खाद्य पदार्थों का संग्रह करना ही जड़ का मुख्य काम है। कभी-कभी जड़ें दूसरे काम भी करती हैं। इसीलिए इनमें परिवर्त्तन भी पाये जाते हैं। कोई-कोई जड़ें पेड़ों में गोदाम का काम देती हैं। मूली, शकरकन्द (दे० चि० २) और शतावर की जड़ें इसी भाँति की हैं। जड़ों के और भी अनेक रूप-रूपान्तर हैं। जब हम जड़ों के संबंध में अन्य बातों पर विचार करेंगे, तो इस ओर भी ध्यान देंगे।
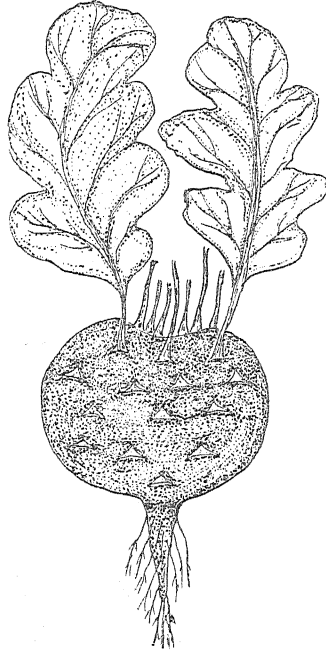
चित्र ३—गाँठगोभी
[चित्र—लेखक द्वारा]

पौधे के पृथ्वी के ऊपर के भाग—तना, पत्ती, फूल, फल और बीज

पेड़ के ज़मीन के ऊपर के भाग में तीन मुख्य अंग होते हैं—तना और शाखें, जो कटीली और ऊपर उठी रहती हैं; पत्तियाँ, जो पतली और चिपटी होती हैं; और फूल, जो रंग-बिरंगे होते हैं। वास्तव में फूल भी पत्तियों का रूपान्तर हैं। तना और शाखें पत्तियों को धारण करती हैं और जड़ों द्वारा संचित घोलों को इनमें पहुँचाती हैं। यही इनका मुख्य काम है। इसके अलावा तने कभी-कभी अन्य काम भी करते हैं। गाँठगोभी (चि० ३),
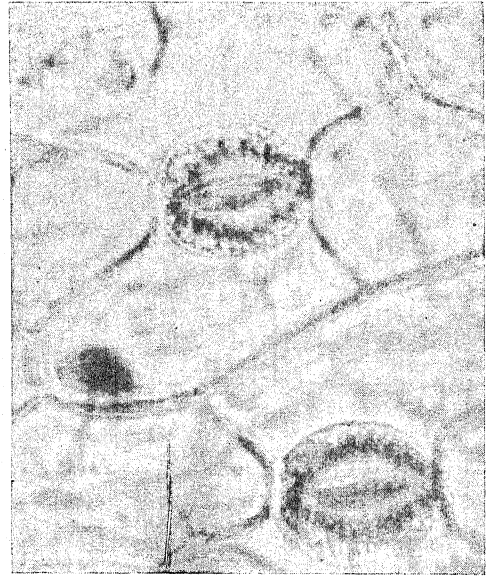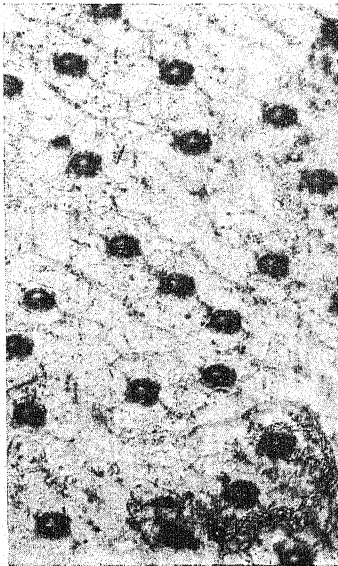
चित्र ४-५-(बाईं ओर) सुदर्शन की पत्ती के ऊपरी पर्त्त का खुर्दबीन से लिया गया फ़ोटो। काले निशान स्टोमैटा है। (दाहिनी ओर) उसी पर्त्त के भाग का अधिक शक्तिशाली खुर्दबीन से खींचा गया फ़ोटो। [फ़ोटो—वि० शर्मा]

अदरक और ज़िमींक़न्द के तने खाद्य पदार्थों के लिए भंडार का काम देते हैं। जड़ की भाँति तने के भी अनेक भेद और रूप हैं। आगे चलकर जब हम तने के संबंध में विचार करेंगे, तब हमें बहुत-सी बातों का पता चलेगा।

पत्तियाँ क्या करती हैं ?

पत्तियाँ पेड़ों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ये पर्ण-हरित (Chlorophyll) के द्वारा हवा की कार्बोनिक ऐसिड गैस के कार्बन और पृथ्वी के जल से शक्कर और माड़ी बनाती हैं। पेड़ के कलेवर की रचना और बाढ़ के लिए कर्बोदेत (Carbohydrates) के साथ-साथ दूसरी चीज़ों की भी ज़रूरत होती है। ये दूसरी वस्तुएँ कहाँ से आती

चित्र ६—७

(ऊपर) डंडा थूहड़ का चित्र। (बाईं ओर) मटर की लता का चित्र।
[चित्र—लेखक द्वारा]

हैं? हम आप सभी जानते हैं कि पेड़ों को खाद की आवश्यकता होती है। खेत बोने के पहले किसान खेत पाँसते हैं। माली भी समय-समय पर फुलवाड़ी के पौधों में खाद डालता रहता है। खाद में तरह-तरह के नमक रहते हैं। इन्हीं नमकों और कर्बोदेत से पेड़ प्रोटीन (Protein) तैयार करते हैं, जिनसे न केवल उनके शरीर ही की वृद्धि होती है, वरन् समस्त संसार के लिए मनों सामान तैयार होता है। कैसी अनोखी बात है! मिट्टी में तो नमक बड़ी सूक्ष्म मात्रा में होते हैं—इतने कम कि शायद हम आप मामूली तरीक़े से उनका पता भी न लगा सकें, केवल रासायनिक विश्लेषण से ही उनका पता चलता है। तब भला पेड़ करोड़ों मन सामान—गेहूँ, चना, फल, मेवे—के लिए उपयुक्त प्रोटीन कैसे संचित कर पाते हैं? इस काम के लिए पेड़ों को अपने कलेवर में होकर घड़ों पानी बाहर फेंकना पड़ता है, तब कहीं जाकर उन्हें यथेष्ट मात्रा में नमक मिलते हैं। विद्वानों ने अनुसन्धान से पता लगाया है कि एक एकड़ गेहूँ के खेत से फ़सल भर में लगभग ७४२० मन पानी पौधों द्वारा हवा में जाता है। इसी प्रकार एक एल्म (Elm) का पेड़, जिसमें अनुमानतः सत्तर लाख पत्तियाँ थीं, और जिनकी ऊपरी और निचली सतह का रक़बा लगभग ५ एकड़ था, चमकते सूरज के प्रकाश में १२ घंटे में २०० मन पानी त्यागता था।

पानी को बाहर निकालने का काम पत्तियों द्वारा ही होता है और इसी कारण से ये इतनी पतली होती हैं। पेड़ों में इतनी

चित्र ८—प्याज़

"अ" पत्ती का निचला भाग, जो गोदाम का काम देता है।

पत्तियाँ होने का यही कारण है। पत्तियों में नन्हें-नन्हें अनेक छेद (Stomata) होते हैं। इन्हें हम ख़ुर्दबीन से देख सकते हैं (दे० चि० ४–५)। इन्हीं के द्वारा पत्तियों में हवा पहुँचती है और जल बाहर निकलता रहता है।

पत्ती के मुख्य भाग

सम्पूर्ण पत्ती के तीन भाग होते हैं—पत्रदल (Blade),

पत्रवृन्त (Stalk) और आधार (Base) (दे० चि० ९)। पत्तियाँ तरह-तरह की होती हैं। इनकी बनावट, शिखर (Apex), सतह (Surface), किनारे (Margin) और नाड़ीक्रम (Veination) आदि के अनेक भेद हैं। किसी-किसी पत्ती में आधार के पास एक अंग होता है, जिसे पुंखपत्र (Stipules) कहते हैं (दे० चि० ६-७)। ये दो होते हैं और आधार के अगल-बगल रहते हैं। इनके भी तरह-तरह के रूपान्तर हैं। बबूल और डंडा थूहड़ के काँटे (दे० चि० ६) इन्हीं का रूपान्तर हैं। मटर के पुंखपत्र (दे० चि० ७) पत्तियों का काम करते हैं।

आहार संचित करने के अलावा पत्तियाँ कभी-कभी अन्य काम भी करती हैं। निपेन्थीज़ की तूँबी, जिसके संबंध में आप पढ़ चुके हैं, पत्ती ही का रूपान्तर है। प्याज़ में पत्ती का निचला भाग भण्डार का काम देता है। प्याज़ का वह भाग जो खाने के काम में आता है, पत्तियाँ ही हैं (दे० चि० ८)।

चित्र ९—बतख़बेल
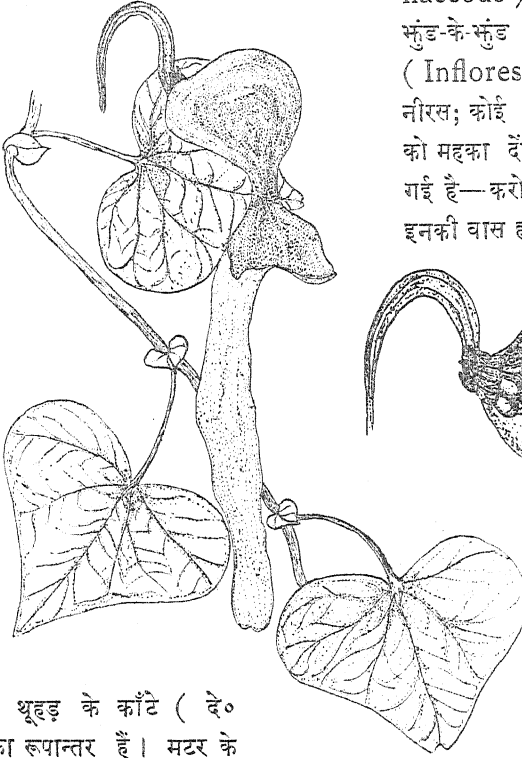
(ऊपर की ओर) मुख्य पौधा है। (दाहिनी ओर) फूल के भीतर का दृश्य है। इसमें चित्र को बढ़ाकर फूल में क़ैदी पतिंगा दिखाया गया है।

[चित्र—लेखक द्वारा।]

फूल

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, फूल भी एक प्रकार से पत्तियाँ ही हैं। फूलों के अनेक भेद हैं। आपने तरह-तरह के फूल देखे होंगे—लाल, पीले, नीले, गुलाबी, सफ़ेद, रंग-बिरंगे, कोई सवृन्त (stalked) तो कोई अवृन्त (sessile); कोई छोटे, तो कोई बड़े; किसी की पँखुड़ी आपस में मिली हुई (gamopetalous), तो किसी की अलग-अलग (polypetalous); कोई घंटिकाकार (bell-shaped), तो कोई तुरही-जैसे (trumpet-shaped); कोई अण्डाकार (egg-shaped), कोई तितली-जैसे (papillionaceous); कोई एकान्तवासी (solitary) तो कोई झुंड-के-झुंड एक ही अक्ष पर भाँति-भाँति के व्यूह (Inflorescence) की रचना में; कोई सरस तो कोई नीरस; कोई इतने सुगंधित कि एक ही फूल से फुलवाड़ी को महका दें, तो कोई ऐसे कि जिनमें गंध छू तक नहीं गई है—करोड़ों फूलों से लदे हुए सैकड़ों पेड़ होने पर भी इनकी वास हमारे पास तक नहीं पहुँचती। लेकिन अनेक अन्तर होने पर भी इनका ध्येय एक ही है। प्रकृति ने इनकी सृष्टि एक ही अभिप्राय से की है। फूल पेड़ों की सुन्दरता का ही सार नहीं, वरन् उनका एक परम आवश्यक अंग है। वनस्पति-संसार में निस्संदेह सबसे रोचक कहानी इसी की है। फूल वह नाट्यशाला है, जहाँ पेड़ों की अत्यन्त गोपनीय लीलाओं का अभिनय होता रहता है। इस रंगमंच पर कितने ही नट-नटी रूप-यौवन में माते, मकरंद की उमंग में मदान्ध हो मर्यादा छोड़ नाचते और किलोलें करते हैं। फूलों में दूसरों को आकर्षित करने का सामर्थ्य है। वसंत-ऋतु में मंद-मंद सुगंध से परिपूरित वाटिका की समीर किसके चित्त को चंचल नहीं करती ? फूल के अनुपम रूप-रंग पर कौन मोहित नहीं हो जाता ? कमल, गुलाब, चम्पा, चमेली की कौन कहे, साधारण फूलों पर भी मनुष्य ही नहीं कीट-विहंग तक उन्मत्त हो उनके पीछे लगे रहते हैं। कोई-कोई तो यहाँ तक आसक्त हो जाते हैं कि
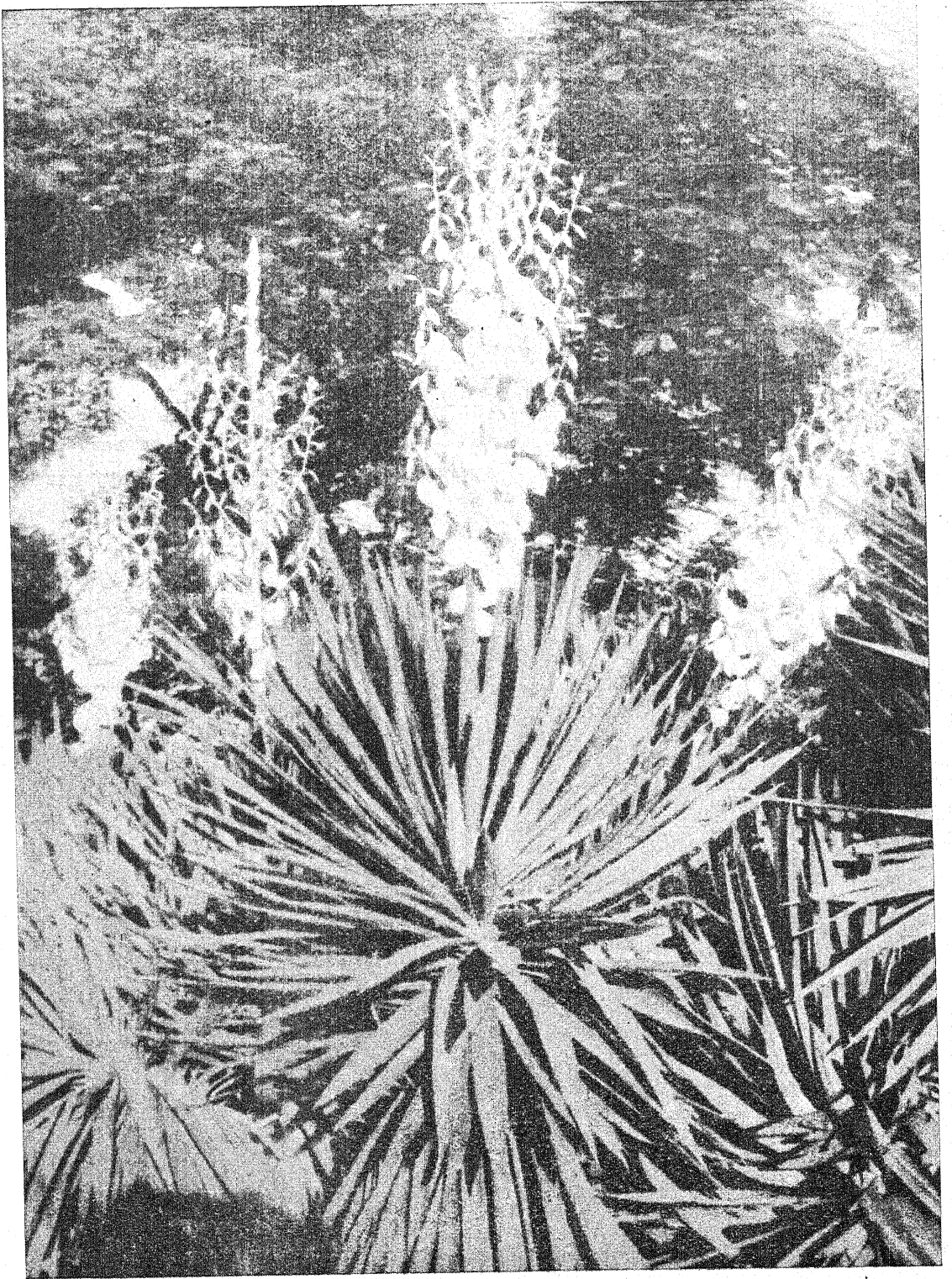
चित्र १०—यक्का (*Yucca*) नामक पौधा
जो अपने गर्भाधान की क्रिया एक विशेष जाति के पतिंगे की सहायता से करता है। [फ़ोटो:— श्री० रा० व० सिठोले]

अनेक कष्ट पाने पर भी इन्हें घेरे रहते हैं। "भँवर न छोड़े केतकी, तीखे कंटक जान"। कभी-कभी तो ये अपनी जान तक की परवाह नहीं करते। बतख-बेल *(Aristolochia)* (दे० चि० ६) के फूल में तो जाकर पतिंगे ऐसे फँस जाते हैं कि एक बार फूल के अन्दर प्रवेश करते ही घण्टों तक के क़ैदी बन जाते हैं और फिर चाहे जितनी उछल-कूद करें और मचलें, पहरों तक वहाँ से निकल नहीं पाते; लेकिन फिर भी इस आचरण से बाज़ नहीं आते! एक फूल से निकलते ही दूसरे में जा घुसते हैं। मक्खी, तितली, पनगे आदि को भी आपने फूलों को घेरे देखा होगा। कहाँ तक कहें, इन फूलों में ऐसा जादू है कि घोंघे तक इनके पीछे घोंघे बने फिरते हैं! आप समझते होंगे कि हमारी आपकी भाँति अन्य जीव भी यहाँ सैर करने आते होंगे और विवश हो फूल के रूप-रंग में यों ही फँस जाते होंगे। परन्तु ऐसा नहीं है। वास्तव में इन बेचारों को इतनी फ़ुरसत कहाँ जो फूलों पर खेलने आएँ? ये तो दिन-भर काम करनेवाले परिश्रमी जीव हैं। ये फूलों के पास जी बहलाने नहीं आते, बल्कि इसलिए कि इनको यहाँ भोजन मिलता है। यह मधु और मकरंद ही का लोभ है कि जिसके पीछे ये यहाँ मँडराते हैं।

अब आपके सामने प्रश्न ही दूसरा उपस्थित हो गया। आप और भी भ्रम में पड़े होंगे। माना कि कीड़े-मकोड़े फूलों पर इसलिए आते हैं कि यहाँ इनको भोजन मिलता है, परन्तु पौधे को इससे क्या लाभ? यह मधु और मकरंद की वर्षा किसलिए? क्या सात पर्त के अन्दर ग्रन्थियों में सुरक्षित यह मधु निष्प्रयोजन चोर और लुटेरों के मज़ा उड़ाने के लिए ही है? हम या आप कोई भी इस राय से सहमत न होंगे। जिस पेड़ की जड़ें धरती के रत्ती-रत्ती नमक और पाताल के बूँद-बूँद जल से खाद्य पदार्थों को इकट्ठा करने में इतनी कुशल हों; जिसकी पत्तियाँ वायु-मंडल की विषैली कार्बन-डाइ आक्साइड (CO_2) से शक्कर और निशास्ता या माड़ी जैसी अमूल्य वस्तुएँ बनाती हों; उसी पेड़ के लिए यह धारणा करना कि इसमें मधु और मकरंद केवल इसीलिए है कि दूसरे निकम्मे जीव मौज उड़ाएँ और पेड़ को इनसे कोई लाभ नहीं है, निःसंदेह असंभव है। इनमें हो-न-हो कोई-न-कोई रहस्य है। इसमें अवश्य ही पेड़ों का कोई-न-कोई बड़ा भारी स्वार्थ होगा। यथार्थ में बात भी यही है और फूलों का रूप, रंग, मधु, पराग, आदि सारे माया-जाल इसी स्वार्थ-साधन के हेतु हैं। फूलों में पेड़ों की जननेन्द्रियाँ रहती हैं। इनमें भी नर और मादा होते हैं और जब तक इनका मेल नहीं होता, बीज पैदा नहीं हो सकते। ये जननेन्द्रियाँ अपना कर्त्तव्य दूसरों की सहायता के बिना नहीं कर सकतीं। इसीलिए इन्हें औरों को रिझा-फुसलाकर किसी-न-किसी तरह फँसाकर अपना काम निकालना पड़ता है। चैतन्य की कौन कहे, इस काम को वे जल और पवन-जैसे जड़ पदार्थों से भी करा लेते हैं।

चित्र ११—गुलमोहर का पुष्प
(१) बहिरवास से सुरक्षित पुष्प; (२) पूर्णतया खिला फूल—दलचक्र में ५ दल हैं। (३) बहिरवास और दलचक्र निकाल दिए गए हैं। पुष्पेंद्रिय में १० पुंकेसर हैं। (४) योनिनलिका; (५) फल। [फ़ोटो:—वि० शर्मा।]

फूल और पतिंगों का पारस्परिक व्यवहार है। फूलों से पतिंगों को मधु और पराग मिलते हैं और इसके बदले में पतिंगे इनके नर को मादा से मिलाते हैं। कोई-कोई पेड़ तो पतिंगों के यहाँ तक अधीन हो गये हैं कि उनमें बिना विशेष जाति के पतिंगे के गर्भाधान ही नहीं हो सकता। जहाँ इस विशेष जाति के पतिंगे नहीं होते, वहाँ ऐसे पेड़ों में बीज ही नहीं उत्पन्न हो सकते।

यक्का *(Yucca)* इसी प्रकार का एक पौधा है। इसमें सैकड़ों मनोहर रुपहले अण्डाकार पुष्प होते हैं (दे० चि० १०)। परन्तु ये सब सुंदर पुष्प किस काम के? जब तक यक्का-माथ (Yucca Moth) नामक पतिंगा इनमें सेचन (Pollination) करने को न हो, ये सारे-के-सारे मुरझाकर गिर जाते हैं। इनका सारा-का-सारा पराग धूल की भाँति झड़-झड़कर नष्ट हो जाता है। पास ही उपस्थित योनिनलिका (Carpel) तक उसका एक कण भी नहीं पहुँच पाता। इसीलिए इसके सब-के-सब फूल सूखकर बिना बीज उत्पन्न किये ही नष्ट हो जाते हैं। कैसी विचित्र लीला है! आगे चलकर जब इस विषय पर हम विचार करेंगे तब आपको और भी कितनी ही रहस्यमय बातों का पता लगेगा।

फूल के मुख्य भाग

साधारण फूल में चार भाग होते हैं। गुलमोहर (दे० चित्र ११), कोकाबेली (चि० १२), अलामंडा (चित्र १३), गुलाब, गुलहड़ या अन्य किसी पूर्ण फूल को लेकर हम इसकी जाँच कर सकते हैं। ऐसे फूल में सबसे बाहर 'बहिरवास' (Calyx) होता है (दे० चित्र १, और ११)। इसमें कई 'पुटपत्र' (Sepals) होते हैं, जो अलग-अलग (polysepalous) (दे० चित्र १२) या एक में जुड़े (gamosepalous) (दे० चित्र १३) होते हैं। इनकी अनुहार पत्तियों से बहुत मिलती-जुलती होती है। पत्तियों की तरह इनका रंग भी प्रायः हरा ही होता है, परन्तु आकार में 'पुटपत्र' पत्तियों से छोटे होते हैं। जब फूल कलिका के रूप में होता है, तब यही 'पुटपत्र' फूल के भीतरी कोमल अंगों की रक्षा करते हैं। बहिरवास के अन्दर 'दलचक्र' (Corolla) होता है (चित्र १, और ११)। इसमें भी बहिर-वास की भाँति 'दल' या 'पँखुड़ी' होती हैं, जो अलग-अलग (चित्र ११, १२) या आपस में जुड़ी (चित्र १३) होती हैं। दलपत्र पुटपत्र से बड़े और कोमल होते हैं। फूल का रूप, रंग, बनावट आदि इन्हीं पर निर्भर है। साधारण लोग दलचक्र को ही फूल समझते हैं। दलचक्र के अन्दर और उससे कुछ ऊपर 'पुष्पेन्द्रिय' (Andrœcium) होती है (चित्र १, ११)। इसमें कई पुंकेसर (Stamens) होते हैं (चित्र १, ११)। पुंकेसर में लिंगसूत्र (Filament) और परागकोश (Anther), ये दो भाग होते हैं (चित्र १,११)। कोश के अन्दर एक धूल-सी वस्तु होती है, जिसे पराग (Pollen) कहते हैं। यही पुष्प का नर-अंश है। फूल के बीचोबीच फूल का मादा-भाग होता है। इसे 'गर्भकेसर' (Pistil) कहते हैं। (चित्र १, ११)। इसमें एक या कई 'योनिनलिकायें' (Carpels) होती हैं (चित्र १, ११)। योनिनलिका के तीन हिस्से होते हैं—सबसे नीचे 'गर्भाशय' (Ovary), इसके ऊपर एक महीन सूत-सी पोली डंडी 'गर्भसूत्र'

चित्र १२—कोकाबेली (Waterlily) [फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]

चित्र १३—अलामंडा
[फ़ोटो—श्री० रा० व० सिठोले ।]

(Style), और सबसे ऊपर कुछ उभरा हुआ भाग 'योनिछत्र' (Stigma) (चित्र १, ११)। गर्भाशय के अन्दर नन्हें-नन्हें कण या 'रजोविन्दु' (Ovules) होते हैं। रजोविन्दु गर्भाशय में 'गर्भ-झिल्ली' (Placenta) पर होते हैं (चित्र १)।

सम्पूर्ण फूल की रचना पर विचार करने से हमें भली भाँति ज्ञात हो गया कि इसमें नर और मादा दोनों ही अंग हैं। किसी-किसी फूल में नर और मादा अंग पृथक्-पृथक् फूलों में होते हैं और कभी-कभी तो ये पृथक्-पृथक पौधों में होते हैं। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, नर और मादा अंशों के मेल से ही बीज उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं। एक ओर परागकोश के अन्दर हज़ारों नन्हें-नन्हें पराग-कण हैं और दूसरी ओर गर्भाशय में सुरक्षित गर्भ-झिल्ली पर अनेक रजोविन्दु (दे० चित्र १)। बीज-उत्पत्ति के लिए इन दोनों का संयोग होना आवश्यक है। इसीलिए पराग-कणों को योनिछत्र तक पहुँचना चाहिए। इस क्रिया को सेचन (Pollination) कहते हैं और पानी, हवा, पतिंगे अथवा अन्य जीव इसके मुख्य साधन हैं। इसीलिए फूलों को पतिंगों को आकर्षित करना पड़ता है। इसी अभिप्राय से फूल पतिंगों को मधु और कभी-कभी पराग तक देते हैं।

फल, बीज और प्रसारण

योनिछत्र पर पहुँचने पर परागकण में परिवर्तन होने लगते हैं और अन्त में नर व मादा अंशों का मेल हो जाता है, जिसे गर्भाधान (Fertilisation) क्रिया कहते हैं। इसके पश्चात् गर्भपिण्ड (Embryo) की रचना होती है। यही समय पाकर बीज हो जाता है। अब गर्भाशय कुछ बढ़कर मोटा हो जाता है। यही पकने पर फल बन जाता है। फूल में केवल बीज ही नहीं होता, वरन् बीज को दूर-दूर देशों में फैलाने का साधन भी। आप लोगों ने कभी-कभी बरगद या पीपल को आम, जामुन, खजूर (दे० चित्र १४) या अन्य पेड़ पर अथवा मकान की छतों व दीवालों पर उगा हुआ देखा होगा! इनके बीज यहाँ कैसे पहुँचे? अगर आप विचार करें, तो पता लग जायगा कि ये बीज यहाँ चिड़ियों द्वारा पहुँचे। इन पेड़ों के पके फलों को चिड़ियाँ बड़े चाव से खाती हैं, परन्तु इनके बीज को हज़म नहीं कर पातीं। इसलिए इनकी बीट के साथ बीज जैसे-के-तैसे बाहर निकल आते हैं, और जहाँ कहीं इनका बीट पहुँचता है, उसमें इन पेड़ों के सैकड़ों बीज सम्मिलित रहते हैं, जो अनुकूल परिस्थिति पाकर उग आते हैं। चित्र १४ में जो आप बरगद का पेड़ देखते हैं, वह आज से कई वर्ष पहले संभवतः इन्हीं
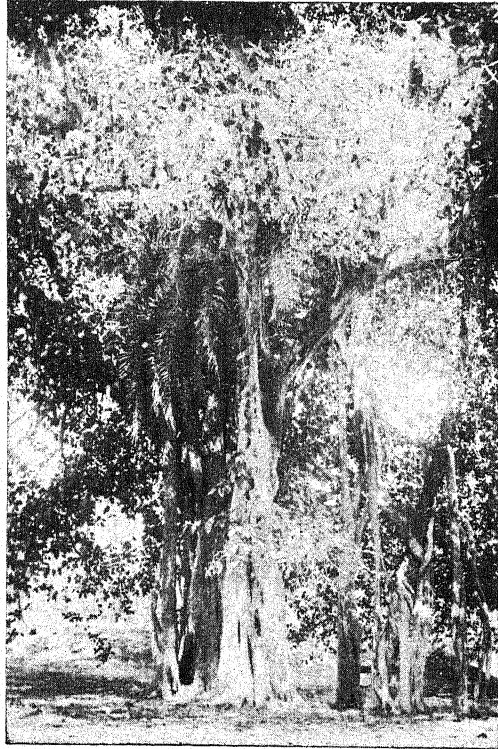
चित्र १४—खजूर पर लगा हुआ बरगद
[फ़ोटो—श्री० हरिपद चौधरी ।]
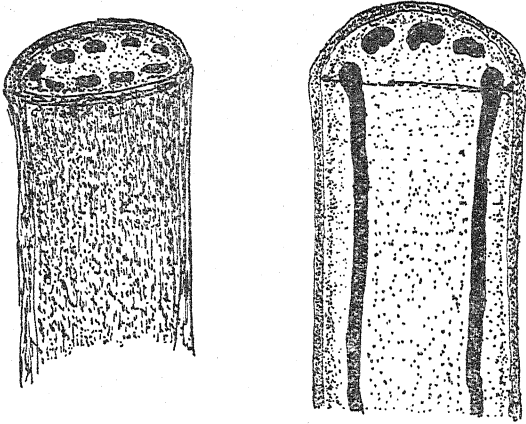
चित्र १५—पेड़ की टहनी

(दाहिनी ओर) बीच से दो फाँक कर दिखायी गयी है । काली लकीरें नसें हैं । [चित्र—लेखक द्वारा]

चिड़ियों द्वारा इस खजूर के पेड़ पर बीजरूप में आया था। अब इसने बढ़कर विशाल रूप धारण कर लिया है, और बेचारे खजूर को, जो इसका आश्रयदाता है, यह आज मौत के घाट उतारने पर तत्पर है।

चिड़ियों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार से भी पृथ्वी पर फल और बीजों का प्रसारण होता है। कितने ही फल हैं, जिन्हें लोग खाने को ले जाते हैं और इस प्रकार इनके बीजों को दूर-दूर देशों में पहुँचाते हैं। कितने ही फल और बीज हवा में उड़ते रहते हैं। आपने फाल्गुन और चैत में सेमल के बीज, जिन पर रुई-से रोयें होते हैं, हवा में हज़ारों की संख्या में उड़ते देखे होंगे। ये इसी प्रकार मीलों चले जाते हैं। कितने ही फल नदियों और समुद्रों में तैरते-तैरते सैकड़ों मील का सफ़र कर कहाँ-से-कहाँ जा पहुँचते हैं। कितने ही फल और बीज जानवरों के शरीर और हमारे कपड़ों में चिपट जाते हैं, और इसी प्रकार दूर-दूर तक पहुँच जाते हैं।

चित्र १६—स्पायरोगायरा

ख़ुर्दबीन से लिया गया चित्र। [फ़ोटो—वि० सा० शर्मा]

पौधों की अंग-रचना पर विचार करने से हमें पता लगता है कि इनके भिन्न-भिन्न अंग अलग-अलग काम करते हैं, परन्तु एक-ही लक्ष्य से। इन सबका एक ही अभिप्राय है — एक ही ध्येय है। संसार के जीवन-संग्राम में पौधे का सफल होना उसके आकार और सौन्दर्य पर नहीं वरन् उसकी सन्तानोत्पादन की शक्ति और प्रसारण की योग्यता पर निर्भर है। इस लक्ष्य-साधन की पूर्ति में पेड़ के सभी अंग हाथ बटाते हैं—जड़ पेड़ को पृथ्वी में रोपण करके और पाताल के जल और खाद्य पदार्थों का संग्रह करके; तना अन्य अंगों की धारणा करके; पत्तियाँ जड़ों द्वारा संचित घोलों और वायु-मंडल की कार्बन से शक्कर और निशास्ता की रचना करके; फूल बीज उत्पन्न करके; और फल उनका दूर-दूर देशों में प्रसारण करके। परन्तु पेड़ के ये प्रत्येक अंग अपने-अपने कर्त्तव्य किस प्रकार पालन करते हैं? जड़ें पृथ्वी के ज़र्रे-ज़र्रे से ख़ूराक और जल की योजना कैसे करती हैं? इनके सुकोमल सूत्रवत् रोयें चट्टानों और पत्थरों तक से खाद्य रसों को किस तरह खींचते हैं? तने में होकर जड़ों द्वारा संग्रहीत पदार्थ पत्तियों तक किस प्रकार पहुँच जाते हैं? सैकड़ों फ़ीट नीचे पृथ्वी के गर्भ की वस्तुएँ हज़ारों फ़ीट ऊँचे पेड़ों की चोटी तक पत्ती-पत्ती में किस प्रकार पहुँच पाती हैं? वह कौन-सा यन्त्र है, जिसके द्वारा यह क्रिया होती है? वह कौन-सी शक्ति है, जो इसे चलाती है?
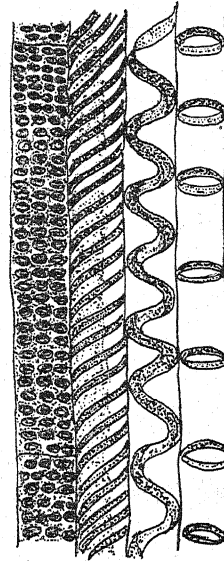
चित्र १७— एक नस के अंदर की चित्रकारी जिसे हम ख़ुर्दबीन से देख सकते हैं। [चित्र—लेखक द्वारा]

पत्तियाँ किस प्रकार वायु की कार्बन का उपभोग करती हैं? वे स्टार्च और शक्कर जैसे अमूल्य पदार्थों की रचना किस प्रकार करती हैं? वे कौन-सी रासायनिक क्रियाएँ हैं, जिनसे इन वस्तुओं का संश्लेषण होता है? वे कौन-से

चित्र १८-१९-२०

(ऊपर बाईं ओर) मक्का की शाख के आड़े कत्तल का पाँच गुना बड़ा फ़ोटो। काले निशान नसें हैं। (दाहिनी ओर) उसी के एक भाग का परिवर्द्धित फ़ोटो नसों के कोश दिखाई दे रहे हैं। (नीचे दाहिनी ओर) मक्का की नस के तंतु। यह लंबान की कत्तल का ख़ुर्दबीन से लिया गया फ़ोटो है। [फ़ोटो—वि० शर्मा।]

कारख़ाने हैं, जहाँ ये वस्तुएँ बनती हैं? इत्यादि-इत्यादि अनेक प्रश्न हैं, जिनको समझने के लिए हमको पेड़ों की आन्तरिक रचना पर विचार करना पड़ेगा। केवल इनकी अंग-व्यवस्था जान लेने से ही हम सारी बातों के रहस्य का यथेष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते।

यदि हम अपने किसी भी अंग को ध्यान से देखें, तो हमें तुरन्त पता लग जायगा कि यह बाहर-भीतर एक-से नहीं हैं। इनमें कई पर्त हैं, जिनकी आकृति में बड़ा अन्तर है। हाथ पर ही ध्यान देकर देखिए। सबसे ऊपर घास की तरह सहस्रों रोयें हैं; फिर खाल है जिसमें कई पर्त हैं; इसके नीचे मांस, रुधिर, नाड़ी, मज्जा, हड्डी आदि हैं। यही बात आपके अन्य अंगों के संबंध में भी है। इसी प्रकार पेड़ के अंगों की रचना भी है। ये भीतर-बाहर मिट्टी या पत्थर के ढेले की भाँति एक-से नहीं होते। इनकी रचना में बड़ा अन्तर होता है। इनमें भी कई पर्त होते हैं। इसका आपको भली भाँति अनुभव होगा। इसकी जाँच भी बड़ी सुगमता से की जा सकती है। किसी पेड़ की टहनी को ले लीजिए। आप इसमें स्पष्ट देख सकते हैं कि सबसे ऊपर छाल, फिर अंतरछाल, इसके अन्दर गूदा और गूदे के बीच-बीच कई नसें हैं (चि० १५, १८, १९ और २०)। परन्तु क्या इतना ही जानकर आप सन्तोष कर लेंगे? अभी पिछले अध्याय में आपने देखा है कि रेशम के तागे से भी महीन स्पायरोगायरा (Spirogyra) जब ख़ुर्दबीन से देखा जाता है तो अपूर्व छटा दिखाता है। इस बाल से भी महीन नली के अन्दर वह चित्रकारी है, जिसकी समानता करने का साहस संसार का निपुण से निपुण चित्रकार भी नहीं कर सकता (दे० चि० १६)। स्पायरोगायरा की रचना के विषय में ख़ुर्दबीन द्वारा हमको ऐसी बातों का पता लगता है, जिनकी हम स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते थे। वास्तव में अणुवीक्षण यंत्र की सहायता बिना हमारी आँखें वृक्ष के प्रत्येक अंग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। हमको पेड़ की जीवनी और रहस्य, उसकी अनेक क्रियायें, उसके अंग-अंग के कर्त्तव्य, इन अंगों का एक-दूसरे से और बाह्य जगत् से संबंध तथा उसका उद्भव, नाश, विकास आदि समझने के लिए उसके अंग-अंग की रचना का हाल जानना आवश्यक है। इसलिए हमें पेड़ के रेशे-रेशे की जाँच ख़ुर्दबीन से करनी होगी।

जीवन क्या है ?

जब से मनुष्य में इस अद्भुत सृष्टि के संबंध में जिज्ञासा या जानने की भूख जगी है, तब से आज तक 'जीवन क्या है ?' यह प्रश्न एक गूढ़ पहेली के रूप में उसके सामने उपस्थित है।

इस विषय के पहले लेखों से आप यह जान गये होंगे कि संसार में कितने प्रकार के जीवित पदार्थ हैं, उनके लक्षण क्या हैं, वे किन तत्त्वों से बने हैं और किस प्रकार वे एक-दूसरे से पहचाने जाते हैं। किन्तु क्या आप कह सकते हैं कि वह कौन-सी वस्तु है, जो सजीव और निर्जीव में भेद करती है ; अथवा वह कौन-सा पदार्थ है, जिसे हम जीवन कहें ? इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न कीजिए ; परन्तु देखिये, कहीं आप भी उसी तरह असफल न हो जायँ, जैसे कि आपके पहले बहुत-से लोग इसी खोज में असफल हो चुके हैं। सभी जानते हैं कि जीवित रहना क्या है, परन्तु यह कहना आसान नहीं है कि जीवन के लक्षण या उपादान क्या हैं। मनुष्य या पशु जब मर जाता है, तब हम कहते हैं कि उसने प्राण त्याग दिये या प्राण उसके बाहर चले गये। वह कौन-सी वस्तु है, जो सजीव पदार्थ में है और मृत्यु हो जाने से निकल जाती है ? क्या मृत्यु किसी चीज़ का खो जाना या निकलना है, या केवल रूप का बदल जाना है, जैसे बर्फ़ के ढेले के गलकर पानी हो जाने में, पानी के भाफ बन जाने में, चाँदी से रुपया बनने में और रुपये के गलकर फिर चाँदी बन जाने में होता है? वास्तव में इसका ठीक-ठीक उत्तर कोई नहीं जानता।

क्या जीवन कोई पदार्थ या शक्ति है ?

हज़ारों वर्ष पहले से मनुष्य ने जीवन की प्रकृति पर विचार किया है, परन्तु वह अभी तक जीवन के भेदों को नहीं समझ सका है। ऐसा जान पड़ता है कि जीवन की समस्या ने हमारे पूर्वजों को इतने संकट में नहीं डाला था, जितना हमें। एक समय मनुष्य का यह विचार था कि जीवन और साँस एक ही हैं ; क्योंकि वे देखते थे कि जब कोई प्राणी मर जाता है, तो उसकी श्वासोच्छ्वास क्रिया भी बन्द हो जाती है। परन्तु हम कुछ ऐसे भी जीवों को जानते हैं, जो बिना साँस लिये ही जी सकते हैं। हमें यह भी मालूम है कि साँस में गैस अथवा वायव्य रहता है, जो ठोस या द्रव पदार्थ में बदला जा सकता है। अतः प्राण को साँस नहीं कहा जा सकता, न वह कोई पदार्थ ही है। यह निश्चय हो चुका है कि आदमी या जानवर के मरने पर उसका भार न बढ़ता है न घटता। यह भी मालूम कर लिया गया है कि मरने से शक्ति में कोई भी ऐसी कमी नहीं होती जो नापी या जानी जा सके। मृत शरीर धीरे-धीरे इसलिए नहीं ठंढा हो जाता कि उसमें से कोई नापी जा सकनेवाली वस्तु निकल जाती है, वरन् इसलिए कि जीवन की क्रियाओं के बन्द हो जाने से तदुपरान्त शरीर में गर्मी नहीं पैदा हो पाती। इसलिए जीवन कोई शक्ति भी नहीं कही जा सकती। **न वह पदार्थ है न शक्ति।**

जीवन के कुछ गुण

यह पहले कहा जा चुका है कि जीवधारी खाते, पीते, बढ़ते और अपनी-सी सन्तान उत्पन्न करते हैं। लेकिन वह कौन-सी रहस्यमय वस्तु है, जिसके कारण जीवधारी इन गुणों को प्राप्त कर लेते हैं और निर्जीव पदार्थ में ये नहीं पाये जाते ? प्रारम्भिक मनुष्यों का यह विचार था कि आत्मा या जीवनी-शक्ति शरीर में बाहर से फूँकी जाती थी और मरते समय वह शरीर को त्याग देती थी। यह बात उतनी ही सही है जितना मूर्ख और अशिक्षित मनुष्यों का पहले-पहल ग्रामोफ़ोन और रेडियो का गाना सुनकर यह विचार करना कि जो आवाज़ उन्हें सुनाई देती है, वह किसी भूत-प्रेत की आवाज़ है। कहा जाता है कि जब सर्वप्रथम भारत-

वर्ष में कलकत्ते के लोगों ने पहली रेलगाड़ी देखी, तो उन्हें यह विश्वास हो गया कि इंजन काली माई के प्रताप से ही रेल के पीछे के डिब्बों को खींचता है; परन्तु आज हम सब जानते हैं कि इंजन के चलने में कोई ऐसी विचित्रता नहीं है, जो समझ में न आवे। उसके चलने का कारण भाफ है, किसी देवी का प्रताप नहीं। विज्ञान और मानव-विचारों के विकास के इतिहास में ऐसी बहुत-सी अद्भुत बातों के उदाहरण मिलते हैं, जिनका संबंध किसी समय भूत-प्रेत से जोड़ा जाता था; परन्तु बाद में पता चला कि वे स्वाभाविक कारणों और पहचानने योग्य साधनों द्वारा ही होती हैं। यही बात बहुत-से आविष्कारों तथा प्लेग, हैज़ा, चेचक-जैसे भयंकर रोगों के विषय में भी हुई है। सारे संसार के मनुष्य रोगों को बहुत दिनों तक ईश्वर का दण्ड मानते रहे। हमारे देश में आज भी बहुत-से लोग चेचक को 'माता' तथा 'देवी' के नाम से पुकारते हैं। जब घर में किसी को यह बीमारी हो जाती है, तो घर की स्त्रियाँ यह समझकर कि घर में देवी का प्रवेश हुआ है, जब तक बीमारी रहती है, बहुत सफ़ाई रखती हैं, और देवी की पूजा करती हैं। इस भय से कि कहीं माता रुष्ट न हो जायँ, वे रोगी को कोई दवा नहीं पीने देतीं। वे यथाशक्ति ऐसा प्रबन्ध करती हैं कि माता प्रसन्न होकर रोगी को शीघ्र ही अच्छा कर दें और घर से विदा हो जायँ। इसी प्रकार कुछ वर्ष पूर्व जब हमारे देश में प्लेग की बीमारी ज़ोर से फैली थी, तो लोग उसे 'महामारी' कहते थे। देहाती ही नहीं, नागरिक भी उससे बचने के लिए पूजा-पाठ करते और दान-दक्षिणा देते थे। अब तो डाक्टरों और वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है और हममें से भी बहुतेरे जान गये हैं कि इन रोगों का कारण देवी-देवता अथवा भूत-प्रेत नहीं हैं। ये रोग ऐसे स्पष्ट कीटाणुओं से होते हैं, जिन्हें शिक्षित मनुष्य सहज में देख-भाल और परख सकते हैं। उपर के विवेचन से ऐसा लगता है कि जीवन की परिभाषा करना बहुत कठिन है; इसलिए हमें पहले जीवन का वर्णन करना चाहिए। इसको अच्छी तरह समझ जाने से जीवन की प्रकृति को समझने में सुविधा होगी।

(१) वृद्धि

हम पहले परिच्छेद में लिख चुके हैं कि जब चीनी का कोई रवा चीनी के सम्पूर्ण घोल में लटका दिया जाता है, तो वह धीरे-धीरे बड़ा हो जाता है; परन्तु वही रवा नमक के घोल में रक्खा जाय, तो कदापि न बढ़ेगा, क्योंकि वह उस नमक को, जिसके घोल में वह डूबा हुआ है, बदलकर अपने में नहीं मिला सकता। इसका यह अर्थ है कि रवा अपने-जैसे पदार्थ के घोल में ही बढ़ सकता है। यदि वह अपने से भिन्न वस्तु के घोल में रख दिया जाय, तो वह न उसे बदल ही सकता है, और न अपनी वृद्धि ही कर सकता है। जीवधारियों में यह बात नहीं होती है। साधारण-से-साधारण जीव भी किसी अनोखे ढंग से आस-पास की वस्तुओं को बदलकर उनसे लाभ उठा सकते हैं। या यों कहिए कि प्राण में (और इसलिए सभी जीवधारियों में) कोई ऐसा पदार्थ है, जो अपने स्पर्श में आनेवाली वस्तु को प्रभावित करके उन भौतिक और रासायनिक क्रियाओं को, जो उस वस्तु पर क्रिया करती हैं और जिन पर कि वह वस्तु प्रतिक्रिया करती है, ऐसे डौल पर लाता है कि जिससे स्वयं उसका स्वभाव या रूप उत्तरोत्तर सिद्ध या पूर्ण होता जाता है। प्राण-हीन पदार्थ ऐसा नहीं कर सकते।

(२) सर्वकालिक परिवर्तन

एक प्रकार से कहा जा सकता है कि सजीव पदार्थ में सर्वकालिक परिवर्तन की योग्यता होती है। जानवर हर घड़ी हवा में साँस लेते हैं, और भोजन खाते हैं। शरीर में पहुँचकर साँस ली हुई हवा और खाये हुए पदार्थ टूट-फूटकर साधारण तत्त्वों में बदल जाते हैं, जो उन तन्तुओं और इन्द्रियों को बनाने में काम आते हैं, जिन्हें हम प्राणी के भिन्न-भिन्न भागों में पाते हैं। सब प्राणियों के पालन-पोषण में यह क्रिया या अवस्था—जिसके द्वारा खाई हुई वस्तुएँ पचकर शरीर का भाग बन जाती हैं—जीवनी-क्रियाओं का प्रधान आधार है। इसके बिना जीवन असम्भव है। इस प्रकार जीवित पदार्थ के बनने में बल या शक्ति की बहुत आवश्यकता होती है। हमें चलने-फिरने तथा अन्य कामों के करने में बल की ज़रूरत होती है। इस दौड़ने-धूपने, लिखने-पढ़ने आदि के करने से जो बल की कमी हममें हो जाती है, अथवा जो तत्त्व क्षीण हो जाता है उसकी पूर्ति भोजन-सामग्री के शरीर में पहुँचकर जीवनप्रद तत्त्वों में परिणत होने से ही होती है। इसी क्रिया के फलस्वरूप शरीर में दूषित पदार्थ भी बनते हैं। आहार का जो भाग हम शारीरिक तत्त्वों में नहीं बदल सकते, वही हमें मल और मूत्र के रूप में त्यागना पड़ता है। इस प्रकार सब जीवधारियों में बनाने और बिगाड़ने की दोहरी क्रियाएँ एक साथ ही होती रहती हैं। बाल्यावस्था में बनानेवाली क्रिया बिगाड़नेवाली क्रिया से अधिक तेज़ होती है। इसी कारण बाल्यावस्था में जीवों के शरीर और अंग बढ़ते जाते हैं, और युवावस्था में पहुँचकर तन्दुरुस्त बने रहते हैं। जब शरीर में बनानेवाली

क्रिया बिगाड़नेवाली क्रिया से प्रबल हो जाती है, तो जीवधारी वृद्ध होने लगते हैं और उनके शरीर भी कमज़ोर हो जाते हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि **जीवन एक भाँति की भौतिक और रासायनिक क्रिया है, जिसके जटिल मिश्रणों में बनने और बिगड़ने की परिवर्तनकारी क्रियाएँ निरंतर और साथ-साथ होती रहती हैं।**

(३) आत्म-रक्षा

जीवन का एक और मुख्य गुण, जो जीवन अथवा जीव-संबंधी क्रियाओं का द्योतक है, यह है कि सर्वकालिक परिवर्तन होते हुए और विविध प्रकार की शक्तियों का प्रभाव पड़ते हुए भी उसमें अपने जातीय रूप और रासायनिक रचना को स्थिर रखने की योग्यता है। इसको हम इस प्रकार कह सकते हैं कि हर प्रकार का प्राणी एक विशेष प्रकार के रासायनिक मिश्रण का नमूना है और हर प्रकार का जीवन एक रासायनिक परिवर्तन का विशेष नमूना है। एक दूसरे से सम्बन्ध रखनेवाले प्राणियों में रासायनिक हेर-फेर का रूप बहुत-कुछ एक-सा ही होता है, जैसा कि मनुष्य और वानर में। किन्तु मनुष्य और मछली में वह बहुत-कुछ पृथक् होता है, और मनुष्य और गगनधूल (खुम्मी) में तो इस संबंध में और भी अधिक विभिन्नता है। इन सबमें सदा परिवर्तन होता रहता है, परन्तु फिर भी सभी अपने विशिष्ट रूप और रासायनिक नक़्शे को स्थिर रखते हैं। आइये, अब हम आपको रासायनिक परिवर्तन का एक उदाहरण दिखलाएँ। जब हम अपनी बाँह को घुमाते या हिलाते हैं, तो उसकी पेशियों में कई जटिल रासायनिक क्रियाएँ आरम्भ हो जाती हैं। इन क्रियाओं में ओषजन खर्च होने लगती है, और इस ओषजन को पूरा करने के लिए ओषजन-युक्त रक्त बाँह की ओर पहले से अधिक मात्रा में दौड़ने लगता है। इस बढ़े हुए रक्त-संचालन के लिए दिल जल्दी-जल्दी धड़कने लगता है तथा साँस भी तीव्र गति से चलने लगती है। ओषजन के अतिरिक्त बाँह की पेशियाँ ख़ून से शक्कर भी खींचने लगती हैं, जिसके कारण ख़ून में शक्कर की मात्रा घटने लगती है। इसको पूरा करने के लिए यकृत के कोषों की एकत्रित शक्कर ख़ून में घुलने लगती है। यह सारा कार्य हमारा मस्तिष्क बिना हमारे जाने ही नियमानुकूल जारी रखता है। इस प्रकार हमारी शारीरिक यंत्र-रचना स्वतः ही हमारे शरीर को ठीक और विधिवत् रखती है। अतएव हम कह सकते हैं कि **जीवन एक प्रकार का स्वयं-प्रबन्धक जटिल रासायनिक परिवर्तन ही है।**

क्या जीव एक यंत्र या मशीन है ?

हमारे पूर्वज कहते थे कि जो वस्तुएँ अपने आप चलती-फिरती हैं, वे सजीव हैं। यंत्रों के युग के पहले यह परिभाषा बिल्कुल ठीक थी। किन्तु इंजन, मोटरकार, हवाई जहाज़ इत्यादि स्वयं-चालक कलों के बन जाने पर लोग यह सोचने लगे कि "क्या कलें भी प्राणी हैं" अथवा "क्या मनुष्य भी कोई यंत्र है" ? यदि हम ध्यान दें कि यंत्र क्या है, तो यही कहना पड़ेगा कि वह निश्चित कार्य करने का ऐसा प्रबन्ध है, जो अलग-अलग भागों या पुर्ज़ों से बना होता है, जैसा कि कपड़ा सीने की मशीन, आटा पीसने की चक्की, लकड़ी काटने का आरा, या साइकिल में हम देखते हैं। जब इनका कोई पुर्ज़ा घिस या टूट जाता है, तो उसकी जगह पर वैसा ही दूसरा पुर्ज़ा लगाने से यंत्र फिर ज्यों-का-त्यों ठीक हो जाता है। कोई भी व्यक्ति, जो बाइसिकिल या सीने की मशीन या और कोई मशीन बनाना जानता है, उसके अलग-अलग भागों को इकट्ठा करके पूरी मशीन तैयार कर सकता है, और जब चाहे तब उन भागों को फिर अलग-अलग कर सकता है। हम प्रतिदिन साइकिल की दूकान पर देखते हैं कि एक मशीन का पुर्ज़ा उसी प्रकार की दूसरी मशीन में लगाया जा सकता है। पर क्या जीवधारियों में भी हम ऐसा कर सकते हैं ? नहीं! उनमें एक प्रकार का निजी व्यक्तित्व पाया जाता है। यह सच है कि सब प्रकार के सजीव प्राणी इस बात में बिल्कुल समान नहीं होते। अधिकतर पौधे और नीची श्रेणी के जानवर मरते नहीं यदि उनके कुछ भाग काट लिये जायँ अथवा उनके दो टुकड़े कर दिये जायँ। उनका हरएक भाग पृथक् रूप में जीवित रहता है और बढ़कर पूरा जीव बन जाता है। परन्तु मनुष्य, कुत्ता या बिल्ली के दो भाग कर डाले जायँ, तो वे तुरन्त ही मर जाते हैं। अतएव अधिकतर पेड़-पौधे और नीची श्रेणी के पशु ही मशीन से ज़्यादा मिलते-जुलते हैं ; क्योंकि उनमें ऊँची श्रेणी के जन्तुओं से व्यक्तित्व की मात्रा कम होती है।

शारीरिक मशीन के कुछ आश्चर्यजनक अदल-बदल

हम यह भी देखते हैं कि आज-कल के निपुण माली एक पेड़ की क़लम दूसरे पेड़ पर बाँध देते हैं, या यों कहिए कि एक पौधे का अंग दूसरे पौधे पर उगा लेते हैं। यही नहीं, पाश्चात्य देशों के होशियार डॉक्टर आज दिन एक मनुष्य के शरीर से ख़ून लेकर दूसरे मनुष्य के शरीर में डाल देते हैं। चतुर शास्त्र-वैद्य या ज़र्राह असली हाथ-पैर के बदले ऐसे बनावटी अंग लगा देते हैं, जो वैसा ही काम कर सकते हैं। इसी तरह हाल में और भी बहुत-से आश्चर्यजनक कार्य

डाक्टरों ने कर दिखाये हैं। पिछले वर्ष ही वाशिंगटन के विश्व-विद्यालय में एक जीवित मछली का हृदय दूसरी जीवित मछली के हृदय के स्थान में लगा दिया गया और वह जीती रही। एक वर्ष हुआ, लंदन में एक आदमी के घायल होने पर उसकी एक आँख निकालने की आवश्यकता पड़ी। जिस डाक्टर के पास यह मरीज़ गया, उसका एक और मरीज़ था, जिसकी अवस्था २१ वर्ष की थी, और जो ३ साल से अन्धा था, क्योंकि उसकी आँख की कनीनिका (Cornea) खराब हो गई थी। चतुर डाक्टर ने उस घायल आदमी की एक आँख निकाल कर उसकी कनीनिका का एक भाग अन्धे आदमी की आँख में लगा दिया, जिससे कि वह एक आँख का सूझता बन गया! न्यूयॉर्क में एक बच्चे की बाईं आँख चेचक से नष्ट हो गई थी। थोड़े दिन बाद उसकी दूसरी आँख भी नष्ट होने को थी। डॉक्टरों की सलाह से उसकी माता ने अपनी एक आँख खराब होनेवाली आँख की जगह लगवा दी! इसी प्रकार वियेना में एक जन्तु-शास्त्र के प्रोफ़ेसर ने आँखफुट्टों के बच्चों के सिर काट कर एक दूसरे से बदल दिये। वे बढ़े और उनके संतान भी पैदा हुई! उनमें और अन्य आँखफुट्टों में कोई भी अंतर न था। इससे सिद्ध होता है कि जानवर भी किसी किसी बात में मशीन-जैसे हैं। पर किसी किसी बात में उनमें एक विशेष व्यक्तित्व भी है। यंत्र और जन्तु में एक और भेद है। जब साइकिल टूट या बिगड़ जाती है, तो वह अपने आप उसे ठीक नहीं कर पाती; किन्तु जब हमारे किसी अंग में चोट लग जाती है, तो घाव अपने आप ही भर जाते हैं। सभी जीवधारी इस तरह अपने शरीर को स्वयं ही ठीक-ठाक कर लेते हैं। हमारे बाल और नाखून कट जाने पर स्वयं ही फिर बढ़ जाते हैं। पेड़-

क्या जीव एक जटिल यंत्र मात्र है ?
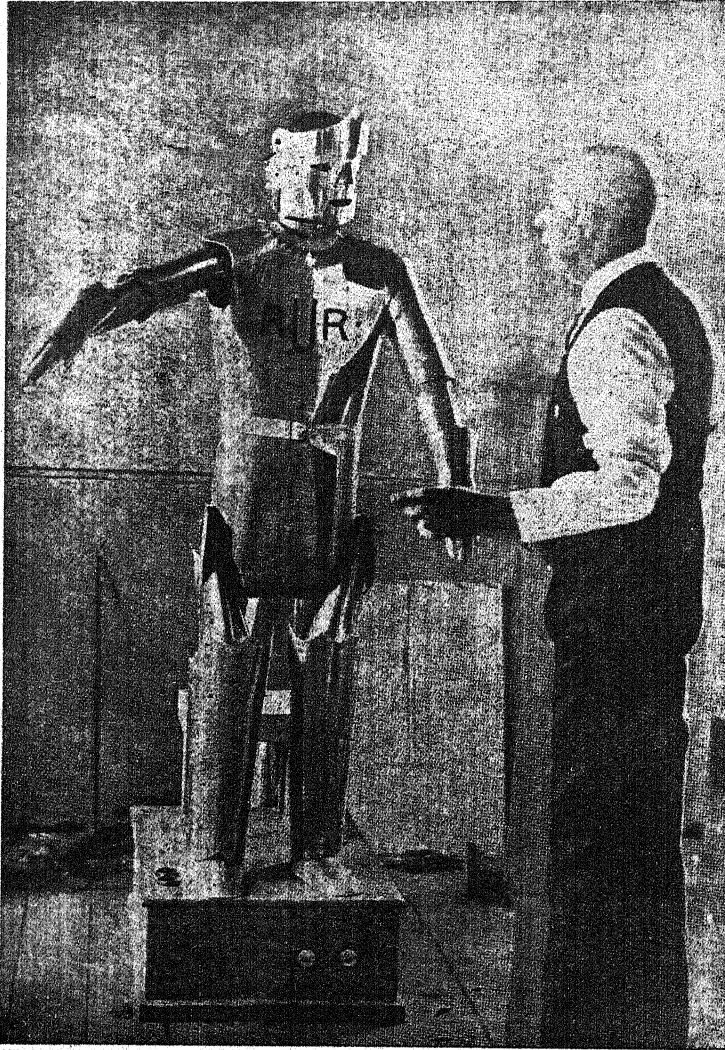
वैज्ञानिकों द्वारा तैयार किया गया यह यंत्र-नर (Robot) केवल आपकी आवाज़ सुनकर जिधर आप कहें उधर सिर या हाथ घुमा सकता है और दूसरे कई कार्य करता है। किन्तु क्या हम इसे जीवधारी की श्रेणी में रख सकते हैं? इस मानवसम यंत्र और उसके सामने खड़े सजीव मनुष्य में एक मौलिक भेद है, अर्थात् इस यंत्र में 'व्यक्तित्व', 'संतानोत्पादन शक्ति', और 'अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाने की शक्ति' का पूर्ण अभाव है जो जीवधारियों के विशेष लक्षण हैं।

पौधों की डालियाँ भी क़लम कर देने पर फिर बढ़ जाती हैं। पर निर्जीव पदार्थ ऐसा नहीं कर सकते। इसलिए यह कहा जा सकता है कि **जीवन अपने आप अपनी मरम्मत करनेवाला एक यंत्र है।**

फिर जीवधारी जिस प्रकार अपनी क्रियाओं को अपने अनुकूल बना लेते हैं, वैसा कोई मशीन नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए तन्दुरुस्ती के लिए हमारे शरीर का ताप लगभग ९८° फैहरैनहाइट रहना ज़रूरी है। इससे ८–१०° ताप बढ़ जाने या २–३° गिर जाने से जान जोखिम में आ जाती है। ऐसी दशा में जब हमारा शरीर बहुत गर्म हो जाता है, तब आप ही आप शरीर में रक्त का प्रवाह बढ़ जाता है, जिससे कि उसकी सतह से ज़्यादा गर्मी निकल जाय। यदि यह भी काफ़ी नहीं होता, तो हमें पसीना आने लगता है और शरीर ठंढा होकर फिर साधारण ताप पर आ जाता है। मनुष्य ने कुछ ऐसी कलें भी बनाई हैं, जो अपनी कोई-कोई बात स्वयं ही ठीक कर लेती हैं, जैसे इंजिन का गवर्नर या वाल्व आदि। ऐसी कलों के अधिकतर भाग ठोस होते हैं और सदा एक ही डील के रहते हैं। लेकिन जीवित वस्तुओं में ऐसा नहीं होता। उनमें तो हड्डी, और नाखून ऐसे ठोस भाग भी प्रवाह की अवस्था में रहते हैं। पूर्ण युवावस्था तक पहुँच जाने पर भी उनमें नये द्रव्य बनते रहते हैं और साथ-ही-साथ बिगड़ते भी रहते हैं। इसलिए प्राणी की स्थिरता किसी मकान अथवा मूर्ति की अपेक्षा दीपक की लौ अथवा पानी के झरने से अधिक मिलती है। अतएव हम कह सकते हैं कि **जीवधारी स्वयं मरम्मत करनेवाले स्वयं-प्रबन्धक यंत्र हैं।**

जीवन क्या है ?

इसकी कोई परिभाषा हम नहीं दे सकते, परन्तु किसी भी जीवधारी में हम उसके कुछ विशेष लक्षणों को देख सकते हैं। प्रत्येक जंतु स्वयं ही अपना निर्वाह करने, अपने ही अनुरूप संतान उत्पन्न करने, अपनी और उनकी वृद्धि तथा रक्षा करने और अपने आपको वातावरण के लिए अधिकाधिक सिद्ध बनाने में प्रयत्नशील रहता है जैसा कि कोई भी निर्जीव वस्तु नहीं कर सकती। (यह बच्चों सहित पैंग्वीन नामक जंतु का चित्र है।)

(४) सन्तानोत्पादन

जीवन का एक और लक्षण यह है कि वह अपने समान और जीव बना सकता है। सारी सजीव सृष्टि—जानवर और वनस्पति—से अंडे, बीज या ऐसे नन्हें-नन्हें बच्चे उत्पन्न होते हैं, जो अपने माँ-बाप के समान रूप-आकार पाते और कर्त्तव्य करते हैं। कुछ जीवों में नई सन्तान एक ही प्राणी से जन्म लेती, तो कुछ में माँ-बाप के रूप में दो प्राणी नई सन्तान की रचना में सम भाग लेते हैं। कोई भी निर्जीव यन्त्र इस प्रकार अपने जैसे यन्त्र नहीं पैदा कर सकता। ऐसी कलें तो ज़रूर हैं, जो एक ही जैसे असंख्य भाग बना सकती हैं; परन्तु ये पुर्ज़े अपना निर्माण करनेवाली मशीन से बिल्कुल भिन्न होते हैं और बढ़ने पर वे कभी उसके समान नहीं हो सकते। एक और भेद यह भी है कि प्राणी नई सन्तान को अपने शरीर या शरीर के ही पदार्थों से उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत मशीन इन पुर्ज़ों को अपने शरीर के भाग या अंगों से नहीं बनातीं, वरन् उन धातुओं आदि से बनाती हैं, जो उनमें बाहर से रक्खी या डाली जाती हैं।

अब हम जीवधारियों का एक और विशिष्ट लक्षण आपको बतलाते हैं, जो सभी जीवों में पाया जाता है। वह यह है कि उनकी क्रियाओं और चाल-ढाल का सार यही नहीं है कि वे अपने शरीर की रक्षा करें, उसके टूटे-फूटे भागों की मरम्मत करें, तथा सन्तान उत्पन्न करें, बल्कि अपनी रहन-सहन को इस प्रकार सुधारें जिससे कि वे अपने को उस देश या वातावरण में रहने के लिए अधिक अनुकूल बना सकें, जिसमें कि विधाता ने उन्हें पैदा किया है। ठंढे देशों के कुत्तों और भालुओं के शरीर पर सर्दी से बचने के लिए लम्बे और घने बाल होते हैं, गर्म देशों में उनके बाल उतने लम्बे और घने नहीं होते। तालों में रहनेवाली सिंघी और सौरी मछलियाँ गर्मी में ताल का पानी सूख जाने पर धरती में घुसकर जीवित रहती हैं, पर नदी की मछलियाँ ऐसा नहीं करतीं। मनुष्य को

जब गर्मी लगती है, तो उसे पसीना आने लगता है और जब ठंडक लगती है, तो वह आग की ओर बढ़ता या गर्म मोटे कपड़ों में अपने शरीर को लपेट लेता है। रेगिस्तान में उगनेवाले पेड़ों के पत्ते बहुत कम और बहुत ही छोटे होते हैं, जिससे कि उनमें से पानी भाफ होकर बहुत ज़्यादा न उड़ सके। इसके विपरीत स्थिर जल में रहनेवाले पौधों के पत्ते कमल-जैसे चौड़े और बड़े होते हैं, और जहाँ हवा बहुत तेज़ी से चलती है, उन देशों में पेड़ों के बड़े पत्ते चिरे हुए होते हैं, जिससे कि वे हवा के झोंकों से फट न जायँ। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि प्राणी की प्रवृत्ति अपने को अधिकाधिक सिद्ध बनाने की होती है। अन्त में मशीन से तुलना करते हुए हम यह कह सकते हैं कि **जीव एक ऐसी मशीन है, जो अपनी रक्षा आप करती है, आप ही अपना प्रबन्ध करती है, आप ही अपनी मरम्मत करती है, आप ही अपने को पैदा करती है और आप ही अपने को सिद्ध बनाती है।**

जीवन विरोधी गुणों का संयोग है

ऊपर हम जो कुछ लिख आये हैं, उस पर एक सरसरी निगाह डालते हुए अब देखना चाहिए कि हम जीवन की प्रकृति के विषय में क्या कह सकते हैं। यह कहा जा चुका है कि जीवन सजीव वस्तु के निरंतर निर्माण की एक प्रकार की अत्यन्त आवश्यक क्रिया है; परन्तु इस बनने की क्रिया के साथ ही उसका टूटना-फूटना या बिगड़ना भी उतने ही आवश्यक रूप में साथ लगा हुआ है। एक ओर काम की सामग्री बनती रहती है, तो दूसरी ओर बेकार चीज़ें भी पैदा होती रहती हैं। हम यह भी जानते हैं कि सब जीवधारी अपने को इस संसार में क़ायम रखने की कोशिश करते हैं, तब भी उनके जीवन में एक अवस्था ऐसी आती है, जब उनका जीवन ढलने लगता है और समाप्त हो जाता है। यदि जीवों में अपना अन्त करने का गुण न होता, तो सारे नीची श्रेणी के जन्तु, एक बार जन्म ले चुकने पर, अभी तक जीवित होते तथा हमारे कुरूप और असभ्य पूर्वज भी आज पृथ्वी पर दिखाई देते! यदि ऐसा होता तो वास्तव में कोई भी उन्नति न हुई होती। मनुष्य पर ही विचार करते हुए हम देखते हैं कि बूढ़ों के मुक़ाबले में नई सन्तान अधिक बढ़ी-चढ़ी और उन्नतिशील होती है। इसलिए मानव-समाज क्रमानुसार एक के बाद दूसरे बूढ़े वंशों के मरने से ही उन्नति-पथ पर बढ़ता चला आता है। अतः यह कहा जा सकता है कि जीवन मृत्यु के विरुद्ध एक अखंड युद्ध है, फिर भी मृत्यु जीवन का अचूक अन्त है। बिना अन्त के जीवन की उन्नति होना असंभव है। हमने यह भी देखा कि जीवन में निरन्तर हेर-फेर होता रहता है; वह एक बराबर झिलमिलानेवाली ज्वाला है। अंतर यही है कि जीवन नित नये विशेष और लाक्षणिक शरीर धारण करता रहता है, जब कि ज्वाला लगातार झिलमिलाने पर भी ज्वाला ही रहती है। यह भी कहा जा चुका है कि जीवन यंत्र-रचना और व्यक्तित्व-जैसी दो विरोधी बातों का मिलन है। ऊँचे प्राणियों में यंत्र के गुणों से व्यक्तित्व अधिक होता है और नीचे प्राणियों में व्यक्तित्व कम तथा यंत्र के गुण अधिक। अतः ऊपर लिखी हुई बहुत-सी बातों में जीवन दो विरुद्ध वस्तुओं का संयोग प्रतीत होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि हर जगह हम विरोधियों का ही मेल पाते हैं। लकड़ी नर्म और कड़ी दोनों ही होती है, लोहा बड़ा कठोर होते हुए भी लचीला होता है। पालने से चिता तक हमारी जीवन-कहानी भी सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रेम-वैर, सफलता-असफलता से भरी पड़ी है। अंग्रेज़ी के एक लेखक ने ठीक ही लिखा है कि 'जीवन असाधारण विरोधों की गठरी है'।

ऊपर लिखी हुई बातों से स्पष्ट है कि जीवन की ऐसी परिभाषा देना सम्भव नहीं है, जो उसके आत्म-विरोधी स्वभाव पर लागू हो सके। दार्शनिक उसको समझने तथा उसका अर्थ बतलाने की चेष्टा करता है; प्राणि-शास्त्रवेत्ता (Biologist) उसका अध्ययन करने का प्रयत्न करता है, यद्यपि दोनों अच्छी तरह जानते हैं कि वे शायद उसकी जटिलता को भली भाँति कभी भी न समझ सकेंगे। पर जैसे-जैसे हम उसका ज्ञान प्राप्त करने में आगे बढ़ते जाते हैं, उतना ही वह हमारे वश में आता जाता है। इस समय हम जो कुछ कह सकते हैं, वह यही है कि इधर कुछ ही वर्षों में जीवन के कुछ पहलू भौतिक विज्ञान और रसायन-शास्त्र के शब्दों में समझाये गये हैं। परन्तु अब भी उसके बारे में हमारा ज्ञान अधूरा ही है। अभी कोई भी दावे के साथ नहीं कह सकता कि जीवन की पहेली उसके समझ में ठीक से आ गई। पर तीस-पैंतीस वर्ष की आश्चर्यजनक उन्नति को देखते हुए हम सोचते हैं कि भविष्य में हमें इस बात से निराश न हो जाना चाहिए कि हम जीवन की पहेली को कभी बूझ ही न सकेंगे। हाँ, अभी तो जीवन की अच्छी-से-अच्छी परिभाषा जो हम दे सकते हैं वह यही है कि **जीवन एक गुण है, जो सजीव प्राणी या ऐन्द्रिक तन्तु के सजीव भागों को मृत या निर्जीव पदार्थों से पृथक् करता है।** किन्तु वह गुण क्या है, यही तो हम नहीं बतला सकते।

मनुष्य की कहानी

मनुष्य के विकास की सीढ़ी के कुछ डंडे

(१) पेड़ों पर रहनेवाला छछूँदर-जैसा कीटभोजी 'श्रू' ; (२) सबसे नीची श्रेणी का प्रधान भागीय जीव टारसियस, जो मलाया और समीप के टापुओं में मिलता है ; (३) मडागास्कर टापू का गंडेदार दुमवाला अर्द्धवानर लीमर ; (४) दक्षिणी भारत और लंका में पाया जानेवाला एक लीमर—(अ) जगता हुआ ; (ब) सोया हुआ ; (५) नई दुनिया के नीची जातिवाले (अ) मारमोसेट और (ब) मकड़ी बन्दर ; (६) पुरानी दुनिया का (अ) काला मुँहवाला लंगूर और (ब) मामूली बन्दर ; (७) बोर्निओ और सुमात्रा में पाया जानेवाला बनमानुष ओरेंग उटांग ; (८) बन्दर की तरह पैरों को उठाये हुए लटकता हुआ तीन सप्ताह का मनुष्य-बालक ।
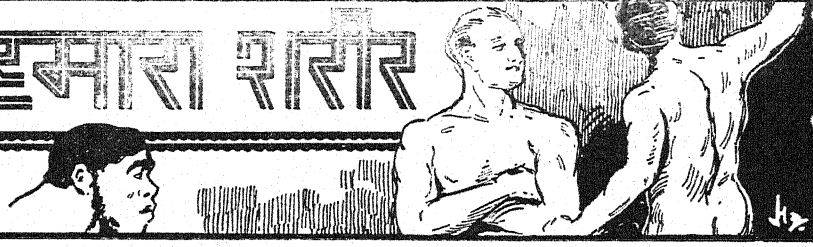
हमारी उत्पत्ति कैसे, कब और कहाँ हुई ?
मनुष्य-जाति का उद्भव और विकास

मनुष्य पृथ्वी पर कब, किस रूप में और कहाँ सर्वप्रथम प्रकट हुआ, इस संबंध में वैज्ञानिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं, किन्तु यह बात अब सभी निश्चित रूप से मानते हैं कि मनुष्य आज जैसा है वैसा आरम्भ में न था। सृष्टि की सभी वस्तुओं की तरह मनुष्य का भी क्रमशः विकास हुआ है। आइए, इस लेख में देखें कि मनुष्य की उत्पत्ति के संबंध में अब तक क्या-क्या बातें मालूम हुई हैं।

पिछले लेखों में हम आपको यह समझा चुके हैं कि मनुष्य भी अन्य जानवरों की तरह एक जानवर है, परन्तु उसमें बहुत-सी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह और जीवों से भिन्न किया जाता है। अब यहाँ हम लिखना चाहते हैं कि मनुष्य बनमानुषों या अन्य निकट सम्बन्धी जानवरों से कैसे, कब और कहाँ पृथक् हुआ। यह तो सभी जानते हैं कि किसी समय पृथ्वी एक आग का गोला थी। उसके चारों ओर आग की भयंकर ज्वालाएँ उठा करती थीं। इन ज्वालाओं के बुझ जाने के हज़ारों वर्ष बाद, जब गर्म-गर्म भाफ उड़कर समाप्त हो गई, उसके भी सहस्रों वर्ष पश्चात् पृथ्वी के धरातल पर पहले-पहल सूक्ष्म जीव का आविर्भाव हुआ। क्रमशः जीव ने अनेक रूप धारण कर लिये और आरंभिक सूक्ष्म जीवों के स्थान में अब भीमकाय जंतु पृथ्वी पर विचरण करने लगे। इन जीवों के जन्म के लाखों वर्ष पीछे इस पृथ्वी पर प्रकृति ने एक ऐसे जीव की रचना की, जो और सब प्राणियों से विचित्र और भिन्न था। इस अनोखे और अद्भुत जीव के निर्माण में युग-के-युग व्यतीत हो गये। यह प्राणी वास्तव में था तो अन्य सभी प्राणियों से निराला, परन्तु बाहरी रूप-रंग में यह कुछ जानवरों से इतना मिलता-जुलता था कि इसमें और उनमें भेद करने में धोखा होने की सम्भावना थी।
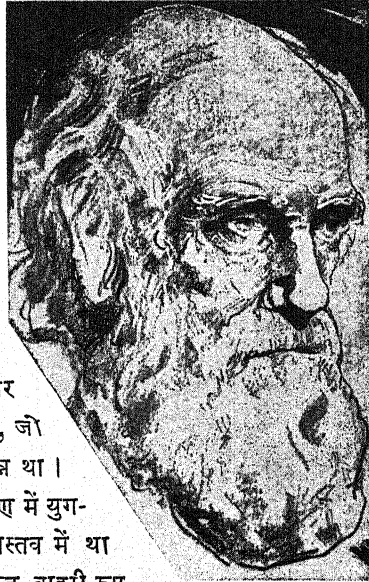
चार्ल्स डार्विन

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, इस जीव तथा अन्य जानवरों में जो भेद है, वह अदृश्य है। केवल देखने से ही उनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो चीज़ उनमें भेद करती है, वह इसके शरीर के अन्दर है। यह चीज़ इसका मस्तिष्क है, जो संसार की सबसे आश्चर्यजनक वस्तुओं में एक है। यह आदिमनुष्य पृथ्वी के प्राचीन जंगलों में खड़ा होकर इधर-उधर की चीज़ों को अपनी वैसी ही आँखों से देखता था, जैसी बन्दर और हाथी, चिड़िया और शेर, भालू और सर्प की थीं। किन्तु उसकी आँखों के पीछे उसका अद्भुत मस्तिष्क था। यह मस्तिष्क उन चीज़ों पर विचार करता था, जिन पर कि उसकी दृष्टि पड़ती थी। इस तरह जहाँ अन्य सारे जीव केवल देखते ही थे, वहाँ केवल यही अकेला सोचता और विचारता था। इसी विचित्र जंतु की संक्षिप्त कहानी हम अब आपको सुनायेंगे। वास्तव में इस विषय के समान मनोरंजक विषय दूसरे बहुत ही कम होंगे।

१६ वीं शताब्दी के मध्य में जब चार्ल्स डार्विन ने अपने लेखों द्वारा सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य बन-मानुष और वानर-कक्षा का ही एक जीव है और उसका भी

विकास प्रकृति की गोद में उसी प्रकार हुआ है, जैसे अन्य जानवरों का, तो मनुष्य के विचारों को बड़ा धक्का लगा। डार्विन साहब ने अपनी एक पुस्तक "मनुष्य का जन्म" (Descent of Man, 1871) में यह लिखा है कि "मैं उस छोटे-से बहादुर बन्दर की, जिसने कि अपने संरक्षक के प्राणों की रक्षा करने के लिए भयंकर शत्रु का मुक़ाबला किया था, अथवा अफ़्रीक़ा के उस बड़े बन्दर बैबून की, जो अपने एक छोटे साथी को कुत्तों से घिरा देखकर फ़ौरन् पहाड़ से नीचे दौड़ पड़ा था और अपने साथी को कुत्तों के बीच से ले भागा था, सन्तान कहा जाना उतना ही पसन्द करूँगा, जितना कि उस असभ्य मनुष्य की सन्तान कहलाना जो अपने शत्रुओं को सताने और दुःख देने में प्रसन्न होता है।" परन्तु इससे डार्विन साहब का यह आशय न था कि मनुष्य-जाति सीधे-सीदे उन जानवरों की ही सन्तान है; यद्यपि बहुत-से लोगों ने भ्रमवश ऐसा कहना और लिखना शुरू कर दिया था और अब भी कुछ लोग मनुष्य के विकास के सिद्धान्त से यही अर्थ निकालते हैं कि मनुष्य वानरों से ही बन गया है। जो ऐसा सोचते हैं, वे भूल करते हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने भी कभी-कभी ऐसी ही बातें कही और लिखी हैं, जिससे साधारण लोगों को भ्रम हुआ है। सन् १९२७ में ब्रिटिश एसोसियेशन* के सभापति ने अपने भाषण में कहा था, "मनुष्य का प्रारम्भ क्या है? क्या डार्विन ने ठीक कहा था कि उन्हीं विकासवादी शक्तियों के द्वारा, जो अन्य जानवरों में पाई जाती हैं, मनुष्य बन-मानुष के बीच के किसी स्थान से उठकर अपनी वर्त्तमान स्थिति को पहुँचा है?" उक्त महाशय ने अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं ही दे लिया था, "हाँ।" किन्तु जैसा कि वुड-जोन्स साहब ने इसके दो वर्ष पश्चात् "स्तनपोषितों में मनुष्य का स्थान" नामक अपनी पुस्तक में लिखा है, यह सम्मति देना उचित न होगा कि आज का कोई भी वैज्ञानिक मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में यह विचार करता हो कि वह किसी भी विद्यमान बन-मानुष या उससे मिलते-जुलते नष्ट-भ्रष्ट पशुओं से पैदा हुआ है। पिछले वर्षों में बहुत-से लेखकों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि यह बिल्कुल स्पष्ट है कि बन-मानुष या वानर और मनुष्य जाति के वर्त्तमान समूह ज़्यादा-से-ज़्यादा एक दूसरे के साथ दूर के भाई-बन्धुओं का रिश्ता रखते हैं, या यों कहिये कि वे सब किसी ज़माने में एक ही पुरखे से पैदा हुए हैं। सिद्धान्त तो यह है कि मनुष्य और बन-मानुषों की शाखायें एक ही धड़ से फूटी हैं—वानरों ने एक राह ली और मनुष्य ने दूसरी, किन्तु दोनों के जहाज़ एक ही बन्दरगाह से चले हैं, दोनों एक ही कारखाने में बने हैं।

आज हम सब जानते हैं कि पृथ्वी अपनी जगह पर घूमती हुई सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, यद्यपि प्रतिदिन की बोल-चाल में प्रचलित परंपरा के अनुसार हम अब भी यही कहते हैं कि सूर्य एक ओर से निकलकर और चल-फिरकर स्थिर पृथ्वी के दूसरी ओर डूब जाता है! इसी परंपरा के अनुसार हम कहते हैं कि सूर्य पूर्व में निकलता है और पश्चिम में डूब जाता है। जिस प्रकार कि यह मनुष्य के ढीले-ढाले विचारों का एक नमूना है, उसी प्रकार हमें उन प्रचलित वृत्तान्तों और मतों को भी समझना चाहिए, जो यह बताते हैं कि मनुष्य विद्यमान वानरों के किसी मिलते-जुलते आकार से निकला है। मनुष्य और बन-मानुषों में जो समता या भिन्नता है, वह हम आपको बता चुके हैं, किन्तु यहाँ थोड़ा-सा प्रधानभागीयों के विभागों का हाल भी बता देना आवश्यक समझते हैं, जिससे कि आगे समझने में सहायता मिले।

नई दुनिया के बन्दर

नई दुनिया के बन्दर पुरानी दुनिया के बन्दरों से छोटे होते हैं और सब क़रीब-क़रीब पेड़ों पर रहते हैं। वे अधिकतर डरपोक और सीधे-सादे स्वभाव के होते हैं, पुरानी दुनिया के बन्दरों की तरह नटखट और आक्रमणकारी नहीं होते। पुरानी दुनिया के बन्दरों के मुक़ाबले में उनके मस्तिष्क की मुख्य इन्द्रियों के स्थान ज़्यादातर समान रूप से बढ़े होते हैं। यदि कोई परिचित मनुष्य नई और पुरानी दुनिया के बन्दरों के किसी मिले हुए झुण्ड में बिल्कुल दूसरे ढंग के या अपरिचित कपड़े पहनकर अचानक आ जाय, तो पुरानी दुनिया के बन्दर उसकी आवाज़ सुनकर भी उसे न पहचान सकेंगे, परन्तु नई दुनिया के बंदरों के पहचानने में भेष बदलने से कोई बाधा नहीं पड़ेगी। नई दुनिया के बन्दर अपने परिचित मनुष्य को उसकी आवाज़ या पैरों की आहट सुनकर ही पहचान लेते हैं। पुरानी दुनिया के बन्दर किसी को देखकर पहचानने में तेज़ होते हैं, लेकिन वे नई दुनिया के बन्दरों की तरह आवाज़ से किसी को नहीं पहचान सकते। इससे प्रकट है कि वानरों की मानसिक अवस्था (Psychology) में बहुत भेद है। नई दुनिया के बन्दर सैबिडी *(Cebidae)* वंश में रक्खे जाते हैं। इनके नथुने एक दूसरे से बहुत दूर पर होते हैं, इसलिए इन्हें चपटी नाकवाले कहा जाता है। मकड़ी बन्दर (Spider Monkey) में आगे की टाँगें पिछली टाँगों से लम्बी होती हैं, किन्तु

* विलायत का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक मण्डल।

ऊनी बन्दरों में चारों टाँगें क़रीब-क़रीब एक ही लम्बाई की होती हैं। शेष सब जातियों में पिछली टाँगें लम्बी होती हैं। दुम केवल ककाजो नामक बंदर में ही छोटी होती है, बाक़ी सबमें बड़ी व लम्बी होती है और बहुतों में वह पकड़ने के काम में आती है।

पुरानी दुनिया के बन्दर

पुरानी दुनिया के बन्दर दो समूहों में बाँटे जाते हैं— पहला कपिसदृश (*Cynomorpha*), जिसमें बन्दर और वानर आदि सम्मिलित हैं, जो चारों टाँगों से चलते-फिरते हैं और जिनकी अगली टाँगें पिछली टाँगों से छोटी होती हैं; दूसरे मानव-सदृश (*Anthromorpha*), जिनमें मानव-सम बन्दर और आधे खड़े होनेवाले बन-मानुष सम्मिलित हैं, जिनकी अगली टाँगें पिछली टाँगों से लम्बी होती हैं। सारे कपिसदृश बन्दरों में नथुने पास-पास होते हैं और वे तंग नाकवाले होते हैं। उनके नाख़ून नई दुनिया के बन्दरों से ज़्यादा चौड़े व कम टेढ़े होते हैं और सबके कूल्हों पर बिना बाल की बैठने की गद्दियाँ होती हैं। लंगूरों को छोड़कर सभी के गालों में थैलियाँ होती हैं। इनमें से कुछ के, जैसे जिब्राल्टर में रहनेवाले बार्बरी वानर के, दुम नहीं होती। काले वानर में बहुत छोटी और मकाकस में सुअर-जैसी दुम होती है। बहुतों में दुम लम्बी होती है, पर उनमें पकड़ने की शक्ति नहीं होती, जैसी कि नई दुनिया के पेड़ पर रहनेवाले बन्दरों में होती है। इनमें से कुछ हल्के शरीरवाले और पेड़ों ही पर रहनेवाले हैं, जैसे अफ़्रीक़ा के म्यूनन; और कुछ भारी डील-डौलवाले व धरती पर रहनेवाले हैं, जैसे पश्चिमी अफ़्रीक़ा के ड्रिल और मैंड्रिल बन्दर।

नई और पुरानी दुनिया के बन्दरों की बनावट और रहन-सहन से यह साफ़-साफ़ विदित होता है कि उनमें से कोई एक-दूसरे से नहीं उत्पन्न हुए हैं। वे दोनों तृतीय युग से पहले के काल के किसी बन्दर या अर्द्ध-बन्दर से भी नीची श्रेणी से निकलकर एक दूसरे से अलग अपने-अपने मार्ग के अनुगामी बने रहे। यह बात ज़रूर है कि दोनों की आवश्यकताएँ बहुत कुछ एक-सी ही रहीं, उनके जीवन व्यतीत करने के ढंग भी प्रायः मिलते-जुलते थे और इसलिए उनमें से एक ही तरह की बनावट का विकास हुआ। कहा जाता है कि इओसीन (Eocene) या तृतीय युग के प्रारम्भिक काल या उससे भी पहले क्रिटेशियस काल में ६ करोड़ वर्ष हुए उत्तरी अमरीका में प्रधानभागीय पुरखे की शाखा से लीमर और टारसियस निकले और तृतीय युग के शुरू में इन टारसियसों में से किसी एक से असली बन्दरों की शाखा फूटी।
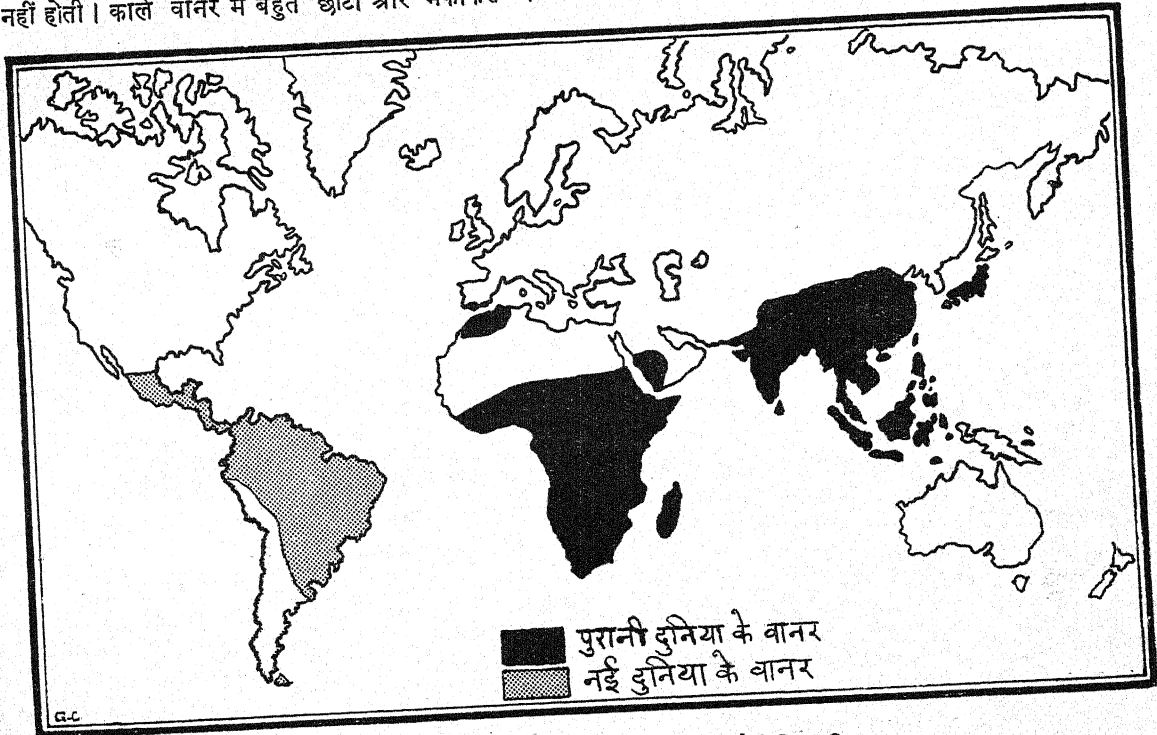
नई दुनिया और पुरानी दुनिया के वानरों का भौगोलिक वितरण
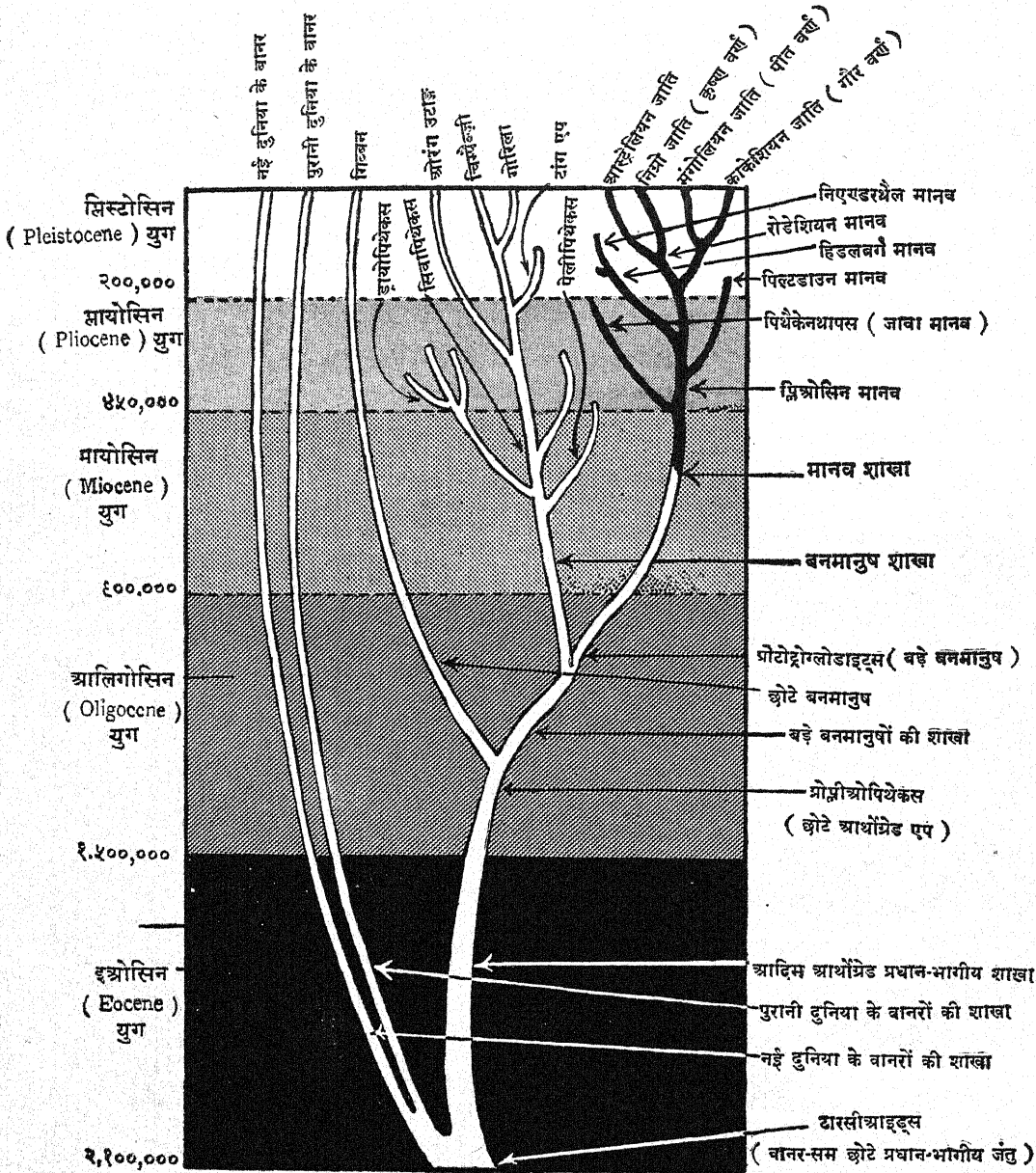
मनुष्य-जाति, बनमानुष और बंदरों का मूल वंश-वृक्ष

यह चित्र मानव-विज्ञान के धुरंधर विद्वान् सर आर्थर कीथ द्वारा तैयार किये एक रेखाचित्र के आधार पर बनाया गया है। इससे स्पष्ट रूप में समझ में आ सकता है कि किस प्रकार सुदूर अतीत में एक ही प्रधानभागीय मूल तने से दो विशाल शाखाएँ फूटीं, जिनमें से एक डाली की उपशाखाओं से नई और पुरानी दुनिया के बन्दर निकले, और दूसरी डाली से क्रमशः गिब्बन, ओरेंग आदि बनमानुष, और मनुष्य की उपशाखाएँ फूटीं। बनमानुष-उपशाखा से ड्रायोपिथेकस, पेलीपिथेकस, सिवापिथेकस, ओरेंग, टाँग एप, गोरिल्ला, चिम्पेन्ज़ी आदि निकले और मानव शाखा से पिथैकेनथ्रापस आदि प्राचीन और काकेशियन आदि अर्वाचीन मानव स्वरूप निकले। चित्र की पृष्ठभूमि में क्रमशः गहरे और हलके रंग से विभिन्न युगों का निर्देश किया गया है, जिससे उक्त शाखाओं के फूटने के समय का ज्ञान होता है। इस मूलवृक्ष के तने में सबसे नीचे टारसिआइड्स का निर्देश है, जो बानर शाखाओं के फूटने के पहले के प्रधानभागीय रूप का स्मारक है।
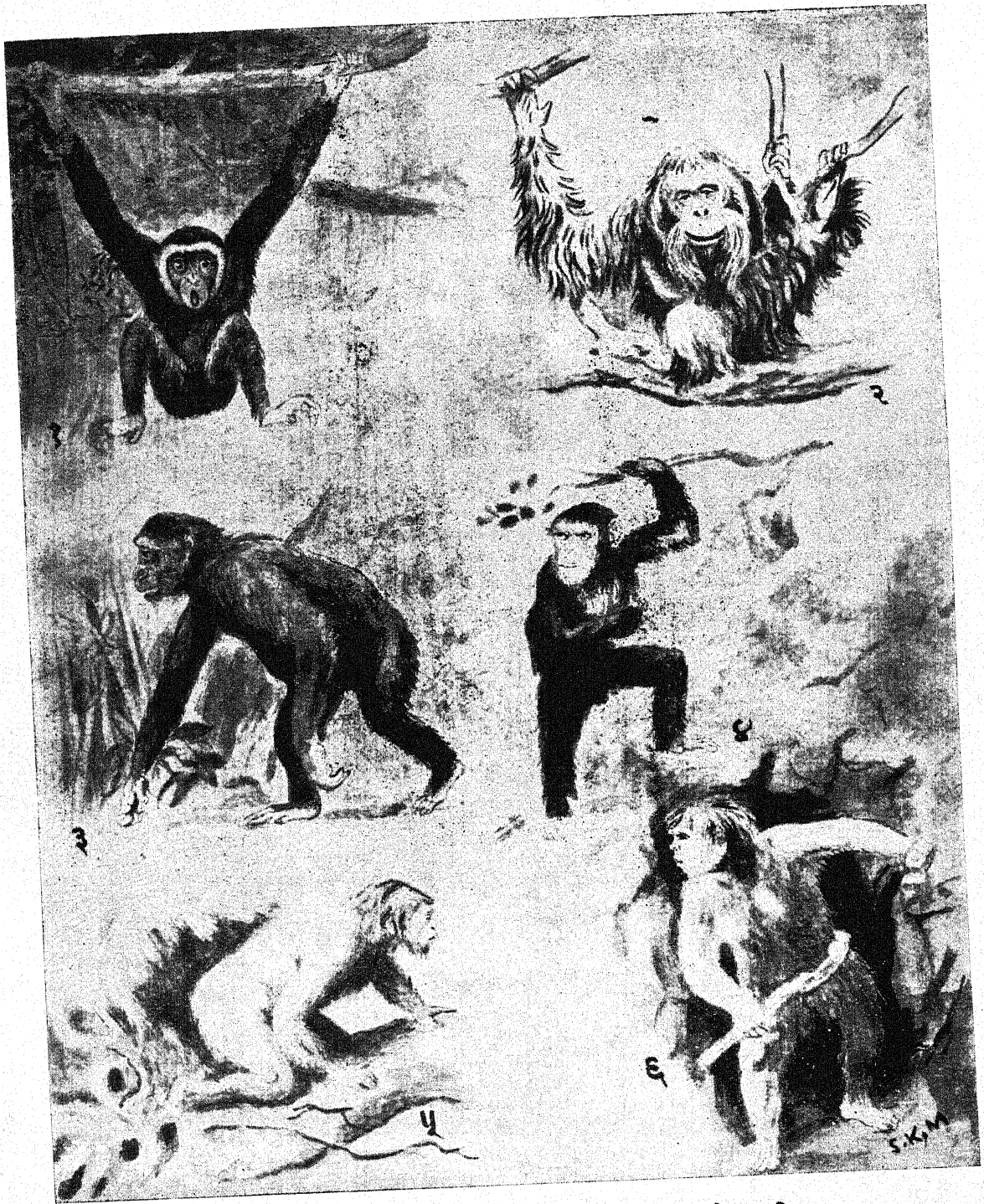
बनमानुषों और मनुष्य में पैरों पर खड़े होकर चलने की शक्ति का उत्तरोत्तर विकास

(१) पेड़ों पर हाथों के बल झूलता हुआ गिब्बन ; (२) प्रायः वृक्ष ही पर घोंसला बाँधकर रहनेवाला ओरैंग ; (३) वृक्ष से धरती पर उतरकर बैसाखी की तरह एक हाथ का सहारा लेकर झुकी दशा में चलनेवाला गोरिल्ला ; (४) मनुष्य की तरह कुछ-कुछ खड़े होकर चल सकनेवाला चिम्पैञ्जी ; (५) वानरों की तरह चारों हाथ-पैर से वृक्षों पर विचरनेवाले लाखों वर्ष पूर्व के मनुष्य के आदिम पुरखे की एक कल्पना ; (६) आदि मानव का वृक्ष से नीचे उतरकर डंडे का प्रयोग करने के प्रयत्न में पैरों पर खड़े होकर चलना ।

इनमें से कुछ दक्खिणी अमरीका में जा पहुँचे और वहाँ धीरे-धीरे चपटी नाकवाले बन्दर बन गये। दूसरों ने अर्द्ध-वानर और टारसियसों के कुछ पुरखों के साथ-साथ यात्रा स्वीकार की। इस यात्रा में ये प्राचीन बन्दर अदल-बदलकर पुरानी दुनिया के तंग नाकवाले बन्दर हो गये। उन्होंने इस यात्रा के चिह्न उस समय की चट्टानों में छोड़े हैं और उनमें से कुछ चिह्न मिस्र, भारतवर्ष और यूरोप की बहुत प्राचीन चट्टानों के काटने से मिले हैं। तृतीय महायुग के चौथे काल अथवा प्लायोसीन युग के पहुँचते-पहुँचते लंगूर ऐसे कुछ जीव—मध्य-कपि (Mesopithecus) तथा लंबित कपि (Dolichopithecus)—बन चुके थे और यूरोप व एशिया में लंगूर, मकाकस और बैबून भी पाये जाने लगे थे। इसके आगे के युगों में इन्हीं रूपों और अन्य समूहों के द्वारा इनका प्रचार सारे एशिया में हो गया। इन्हीं के साथ-साथ उनसे ऊँची श्रेणी के मानव-सम वानरों के पूर्वज भी जन्म ले चुके होंगे। कहा जाता है कि इनका विकास भारतवर्ष के शिवालिक के मैदान में हुआ और यहाँ से ये पूर्वी गोलार्द्ध के भागों में फैले। इनमें से चार अर्थात् गिब्बन, ओरेंग, चिम्पाञ्ज़ी और गोरिल्ला अभी तक मौजूद हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि इन मानव-सम वानरों की शाखा क्या पूर्वी गोलार्द्ध में फैले हुए कपि-सदृश वानरों से ही फूटी तथा मनुष्य के तात्कालिक पूर्वज भी क्या इनमें से ही बने? स्थानाभाव के कारण हम इस संबंध में यहाँ विस्तार से नहीं लिख सकते। किन्तु जो बातें अभी तक मालूम हुई हैं, उनसे यह परिणाम निकाला जाता है कि पूर्वी गोलार्द्ध के बन्दरों के सारे कुटुम्ब में कोई भी ऐसा नहीं है, जो मानव-जाति का पुरखा कहा जा सके। इसमें सन्देह नहीं कि बड़े डीलवाले वानर ही बनावट में अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य से अधिक मिलते हैं। इस विषय के हाल के सभी अधिकारी इस बात में एक मत रखते हैं कि चिम्पाञ्ज़ी और गोरिल्ला वर्ग अन्य जानवरों की अपेक्षा मानव-जाति से अधिक मिलता-जुलता है। तब भी हमको यह भूल न जाना चाहिए कि मानव-जाति और कपि-सदृश तथा मानव-सदृश वानरों में भेद है और उन दोनों के विकास की धारा मानव-विकास की धारा से अलग बहती है। बन-मानुषों में कुछ ऐसे रूप भी हैं, जिनमें बन्दरों के मुख्य लाक्षणिक परिवर्त्तन नहीं पाये जाते। कीथ साहब ने हिसाब लगाया है कि पुरानी दुनिया के बन्दरों के लक्षणों की संख्या, जो बन-मानुषों में भी पाई जाती है, निम्न प्रकार है—गोरिल्ला में १४४, चिम्पाञ्ज़ी में १७२, ओरेंग में २१३ और गिब्बन में ३२३।

इससे यह मानना ही पड़ता है कि बन-मानुष एक प्रकार के परिवर्तित कपि-सदृश बन्दर हैं; किन्तु चारों प्रकार के बन-मानुषों और मनुष्यों में अन्य बन्दरों के समान दुम नहीं पाई जाती। यह दुम क्यों और कैसे ग़ायब हुई? क्या उसके ग़ायब होने से ही बन-मानुष और मानव अन्य बन्दरों से भिन्न हो गए? डाक्टर ग्रैगरी साहब की राय है कि बन्दर और मनुष्य के पूर्व-पुरुषों में सीधे बैठने की आदत पड़ जाने से दुम धीरे-धीरे छोटी होती गई और ग़ायब हो गई। लेकिन सर आर्थर कीथ का कहना है कि दुम के ग़ायब होने का कारण इनका सीधा खड़ा होना है; क्योंकि कूल्हे के स्नायु दुम के चलाने तथा आँतों का भार सँभालने में असमर्थ हो गये। वुड-जोन्स साहब की राय है कि दुम का होना या न होना ऐसी बात है कि जिसका कोई ठीक कारण बतलाना सहज नहीं है। बहुत-से समूहों में देखा जाता है कि दो निकट सम्बन्धी प्राणियों में, जो बहुत कुछ एक-सा ही जीवन व्यतीत करते हैं, एक में लम्बी और काम में आनेवाली दुम होती है और दूसरा बिना दुम के होता है। यदि हम पेड़ों पर रहनेवाले जीवों ही की ओर ध्यान दें तो पता लगता है कि उनमें दुमदार और बेदुमदार दोनों ही प्रकार के जीव पाये जाते हैं, चाहे वे खड़े होनेवाले हों या बैठनेवाले। पेड़ों पर चढ़नेवाले मांसभोजी श्रेणी के जन्तुओं में बहुत-सी लम्बी दुमवाली बिल्लियाँ, बेदुमदार लिन्क (Links). और दुम से पकड़नेवाले किंकाजू हैं। थैलीवाले जन्तुओं में भी दुमदार, बेदुमदार तथा पकड़नेवाली दुमवाले जन्तु पाये जाते हैं। अर्द्ध-वानरों में भी बहुत-से लम्बी दुमवाले और बहुत-से बेदुमदार हैं। इसी प्रकार नई और पुरानी दुनिया के बन्दरों में भी लम्बी दुमवाले, दुम से पकड़नेवाले और बेदुमदार जीव मिलते हैं, परन्तु इनमें यह देखा जाता है कि जहाँ लम्बी दुमवाले कूदने-फाँदने में तेज़ होते हैं, वहाँ जिनकी दुम में पकड़ने की शक्ति होती है, वे लटकने और झूलने में चतुर होते हैं, तथा बेदुमदार बंदर हाथों से पकड़कर चढ़ने में निपुण होते हैं।

इससे विदित होता है कि सबमें दुम न तो बैठने के कारण और न खड़े होने के कारण ही घिसी और न आँतों के बोझ सहने की वजह से ही। साथ ही-साथ यह भी जान पड़ता है कि दुम के ग़ायब हो जाने से इनके पेड़ों पर चढ़ने का ढंग भी बदल गया। अब वे हाथों से चढ़नेवाले

बन्दर बन गये। अवश्य ही यही कारण है कि जिससे ऐसे वानरों की अगली टाँगें पिछली टाँगों से लम्बी हो गईं और यही मनुष्य-सदृश और कपि-सदृश वानरों में मुख्य भेद है। मनुष्य की उत्पत्ति पर विचार करते समय हमें इस बात को भूल न जाना चाहिये।

अतएव यह कल्पना उचित प्रतीत होती है कि पुरानी दुनिया के कुछ बेदुमदार बन्दर अपने समूह के अन्य वानरों की भाँति उन्नति नहीं कर सके और अपनी पहली अवस्था में ही बने रहे। दुम न होने के कारण उन्होंने हाथ से काम लेना शुरू किया। हाथों से ही पकड़कर वे वृक्षों पर चढ़ने लगे; इससे उनके हाथों में पकड़ने की शक्ति आती गई और कुछ समय बाद वे पेड़ों की डालियाँ पकड़-कर लटकने और झूलने लगे। धीरे-धीरे उनमें अधिक समय तक सीधे लटके रहने की योग्यता भी आने लगी, जिसके कारण उनके शरीर के अंगों में परिवर्तन होने लगा तथा उनमें से कोई-कोई अदल-बदलकर बन-मानुष हो गये। इसी सीधे लटकने के ढंग ने वृक्षवासी बेदुम-दार जीवों की हड्डियों, पेशियों और आँतों में ऐसे परि-वर्तन कर दिये, जिनकी वजह से वे दो टाँगों पर बिल्कुल सीधे खड़े होनेवाले आदमी के पूर्वजों का रूप ग्रहण करने लगे। कीथ साहब ने यह भली भाँति दिखलाया है कि इसी प्रकार के हेर-फेर और हाथों से चलने, फिरने, लटकने आदि का काम लेने के कारण (जैसा कि हम आजकल गिब्बनों में लाक्षणिक रूप में पाते हैं) बन-मानुषों के शरीर में उनको सीधे रखनेवाले प्रबन्धों की नींव पड़ गई। हल्के और फ़ुर्तीले गिब्बनों से, जो अपनी लम्बी भुजाओं के सहारे पेड़ों पर सीधे कूदते और झूलते रहते थे, आगे चलकर उनसे कुछ भारी बदनवाले ओरेंग बने, जो वृक्षों पर लटकते थे, और उनसे भी भारी शरीरवाले गोरिल्ला बने, जो अपने अधिक बोझ के कारण पेड़ों पर बराबर चल-फिर नहीं सकते थे। इसलिए वे धरती पर बैठने लगे और लम्बी बाँहों से बैसाखी की तरह शरीर को साधते हुए झुकी दशा में तथा कभी-कभी दो-चार क़दम टाँगों पर सीधे खड़े होकर चलने लगे। सब बन-मानुषों में गोरिल्ला ही सबसे ज़्यादा पृथ्वी पर रहनेवाला है और कदाचित् इसीलिए उसमें ही सबसे अधिक परिवर्तन पाये जाते हैं। ओरेंग में सबसे कम परिवर्तन पाये जाते हैं, क्योंकि यही सबसे ज़्यादा पेड़ पर रहता है। कहा जाता है कि मनुष्य के आदि पूर्वपुरुष भी बन-मानुषों के साथ वृक्ष पर रहनेवाले जीव रहे होंगे तथा उन्हीं की तरह हाथों से खाते, पीते और लटकते रहे होंगे। टामसन साहब का कथन है कि इसी प्रकार की रहन-सहन के कारण हाथों को चलने-फिरने से छुटकारा मिल गया। शरीर ने नया रूप धारण कर लिया। थूथन छोटा होता गया, और इस कारण से खोपड़ी बड़ी हो गई। आँखें आगे को आ गईं, तथा उनमें दूर तक देखने की शक्ति आ गई। घ्राणपिण्ड (मस्तिष्क का वह भाग जो सूँघने से सम्बन्ध रखता है) छोटा होता गया और मस्तिष्क के वे भाग, जिनमें दृष्टि, श्रवण और स्पर्श की संवेदना पहुँचती है, बढ़ते गये। जब थूथन छोटा होने लगा, तो खाना खाने का काम भी हाथों से ही होने लगा, उनमें स्पर्श का बोध बढ़ता गया। इस तरह हाथों व पैरों का काम अलग-अलग बँट गया। प्रोफ़ेसर लल का विचार है कि मायोसीन या प्लायोसीन काल के आरंभ में जब पृथ्वी पर जंगल घटने लगे, तो इन मानवीय पूर्वजों को पेड़ छोड़कर पृथ्वी पर रहना स्वीकार करना पड़ा होगा। इस नई परि-स्थिति में उनको बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए उन्हें जो उपाय करने पड़े होंगे, उनसे मनुष्य की उत्पत्ति में बहुत सहायता मिली। भयंकर जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करने के लिए उन्हें अपने हाथों, लम्बे जबड़ों, मज़बूत कुकुरदन्तों से युद्ध करना पड़ा होगा। इसके अतिरिक्त उनको उस समय की घनघोर वर्षा, कड़ी धूप आदि कठोर प्राकृतिक दशाओं से बचने के लिए अपनी बुद्धि भी दौड़ानी पड़ती होगी। इसलिए उनकी बुद्धि का भी विकास होता गया। थोड़े ही समय में उन्होंने अपनी रक्षा के लिए कंकड़, पत्थर, लकड़ी, डंडों का प्रयोग करना सीख लिया। डार्विन साहब लिखते हैं कि ये जीव ज्यों-ज्यों ज़्यादा सीधे और दोपाये होते गये होंगे, त्यों-त्यों उन्हें डंडे और पत्थरों से अपनी रक्षा करने तथा भोजन के लिए दूसरे जानवरों पर आक्रमण करने और वृक्षों पर बिना चढ़े ही फल तोड़ने में अधिक सहायता मिली होगी। हाथों में विशेषता होने के साथ-साथ बाँहों की लम्बाई और भार में कमी होना भी अब आवश्यक हो गया, क्योंकि तेज़ दौड़ने, ज़ोर से डंडा मारने या पत्थर फेंकने के लिए ऊपरी शरीर का हल्का होना और उसका पैरों पर सधना ज़रूरी हो गया। इसी आवश्यकता के अनुसार इस दोपाये शिकारी की सारी बनावट में सहकारी रूप से परिवर्तन हो गया।

अब लड़ाई का काम पूर्णरूप से भुजाओं ने अपने ज़िम्मे ले लिया और दौड़ने-भागने का काम पैरों के हिस्से में आ गया। खोपड़ी अब पहले से कम मोटी तथा चेहरा पहले से अधिक सुडौल होने लगा; क्योंकि जब लड़ाई का काम दाँतों से हाथों पर आ गया, तो न उतने भारी जबड़े

रह गये और न उतनी मज़बूत गर्दन ही। कार्वेथ रीड साहब का कहना है कि इस प्रकार जहाँ सिर आक्रमणों से बचा रहने लगा और खोपड़ी की मोटाई कम हो गई, वहाँ उसके भीतर की खोखली जगह और दिमाग़ बढ़ता गया, जिससे चेहरे सुडौल, जबड़े छोटे, और मस्तक सीधा व ऊँचा हो गया। कालान्तर में इन आदिम नराकार प्राणियों ने बनमानुषों से अलग होकर मानव का रूप और ढंग धारण कर लिया। पर इन साधारण परिवर्तनों के होने में भी कई लाख वर्ष लग गये।

प्रश्न उठता है कि ज़मीन पर रहनेवाले गोरिल्ला आदि बनमानुषों में भी ऐसे ही परिवर्तन क्यों नहीं हुए ? वे भी मनुष्यों के पुरखों की तरह सारी धरती पर क्यों नहीं फैल गये ? इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि मनुष्य के पूर्वज केवल शाकाहारी ही नहीं रहे, बल्कि वे शिकारी और मांसाहारी भी हो गये। इसलिए उन्हें केवल फलवाले जंगलों में ही रहने की आवश्यकता न रह गई। वे स्थलवासी पशुओं को मारकर खाते हुए जंगलों से ढके गर्म देशों को छोड़कर सम्पूर्ण पृथ्वी पर फैल गये ; किन्तु बेचारे बनमानुष आज तक फलाहारी ही बने हैं और अफ़्रीका के उष्ण कटिबन्धीय वन, मलाया प्रायद्वीप तथा सुमात्रा और बोर्नियो के घने जंगलों में ही पाये जाते हैं, जहाँ आहार के लिए खाने योग्य शाक-पात साल भर मिलता रहता है। यहाँ के अतिरिक्त वे और कहीं नहीं पाये जाते। उनमें से चिम्पेन्ज़ी और गोरिल्ला कभी-कभी भूमि पर उतर तो आते हैं, लेकिन रहने के लिए झोपड़ी पेड़ों पर ही बनाते हैं। वे मानवीय पुरखों की भाँति वनों से छुटकारा नहीं पा सके। कहा जा सकता है कि वनवासी फलाहारी जीव भी शाकपात खाते हुए वनों को छोड़ अन्य देशों में फैल सकते थे, जैसे कि गाय, बैल, भैंस इत्यादि। परन्तु इससे वे न तो सीधे खड़े होनेवाले दोपाये हो सकते थे, न उनके मस्तिष्क की वृद्धि ही हो सकती थी और न मनुष्य के विशेष लक्षणों को ही वे पा सकते थे। यह भी सम्भव है कि कुछ शिकारी मानवीय पूर्व-पुरुष जब ऐसे देशों में पहुँच गये, जहाँ उन्हें खाने-योग्य नर्म शाक-पात बिल्कुल न मिल सका या कम मिलने लगा, तो वे उनके बदले मांस के साथ-साथ कंद-मूल व दूसरी खुरदरी वस्तुएँ भी खाने लगे। इस कारण उनके दाँत भी इस नये आहार के अनुरूप बदल गये।

हमारे पूर्वज अपनी उन्नति के मार्ग में कुछ ऐसी अवस्थाओं से गुज़रे होंगे जिनका कि हमारे पास प्रस्तर-विकल्प (Fossils) में कोई प्रमाण नहीं है। फिर भी यह निश्चित है कि लगभग मध्य मायोसीन काल तक लाइकोपिथैकस (*Lycopithecus*) जैसा कोई वानर पृथ्वी पर था। उसके बाद धीरे-धीरे वह दूसरी श्रेणी में पहुँचा। इस अवस्था में शायद वह प्लायोसीन काल के मध्य तक रहा। इसी युग में उसमें मानव रूप और गुण का कुछ अंश आने लगा [जैसा कि प्रस्तर-विकल्प प्रोटीरैन्थ्रोपस

मनुष्य गोरिल्ला चिम्पेन्ज़ी ओरेंग गिब्बन — मूलवंश
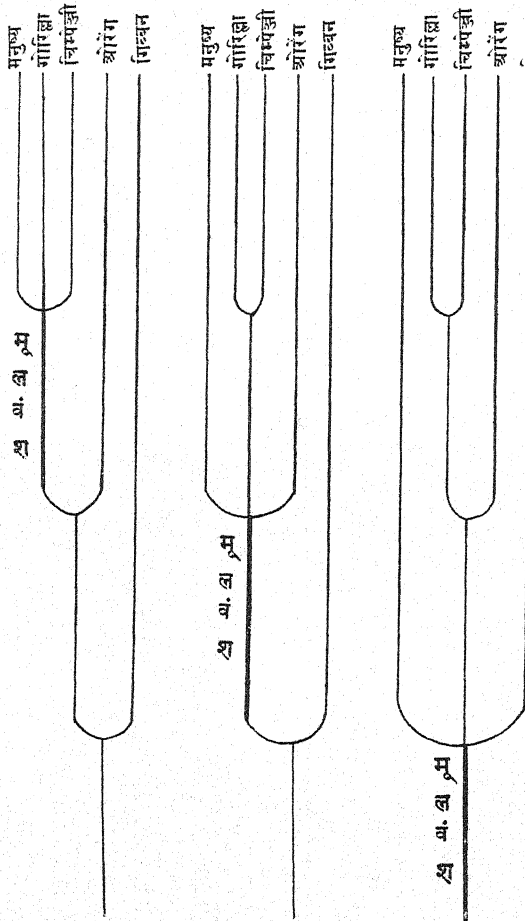
(१) (२) (३)

मनुष्य और बनमानुषों के मूलवंश संबंधी तीन मत

(१) मनुष्य, गोरिल्ला और चिम्पेन्ज़ी एक ही मूलवंश की तीन समान उपशाखाएँ हैं। ओरेंग और गिब्बन इनसे बहुत पहले ही पृथक् हो चुके थे। (२) एक ही मूलवंश से तीन शाखाएँ निकलीं—पहली मनुष्य की, दूसरी ओरेंग की और तीसरी गोरिल्ला और चिम्पेन्ज़ी का, जो दो भागों में बँट गई। गिब्बन पहले ही अलग हो गया था। (३) एक ही मूलवंश से तीन शाखाएँ फूटीं—एक से मनुष्य, दूसरी से गिब्बन और तीसरी से क्रमशः तीन उपशाखाओं के रूप में ओरेंग, चिम्पेन्ज़ी और गोरिल्ला निकले।

Proteranthropus) या हाल ही में पाये गये पैराएनथ्रोपस (Paranthropus) में हम देखते हैं।] इसी अवस्था का एक पिछला नमूना शायद पिथैकैनथ्रोपस (Pithecanthropus) है, जो सीधा खड़ा हो सकता था। इसके आगे चलकर हमें और भी कई उपजातियाँ मिली हैं, जो मानव-जाति में सम्मिलित की जा सकती हैं, लेकिन वे मनुष्य की वर्तमान उपजाति से भिन्न हैं। मनुष्य के इन प्रस्तर-विकल्प पूर्वजों का वर्णन हम आगे के लेख में करेंगे।

मनुष्य के पुरखे कहाँ उत्पन्न हुए और वे कैसे फैले

(ऊपर के नक़शे में) काले रंग तथा समानान्तर रेखाओं व बिन्दुओं से भरे भाग में आरंभिक मनुष्य विचरते थे, यह धारणा की जाती है। समानान्तर रेखावाले भाग के मनुष्यों के चेहरे कुछ-कुछ गौर-वर्ण, सिर लंबे और बाल लहरदार घुँघराले थे। काले भाग के लोगों का वर्ण उनसे कम गोरा और बाल घुँघराले थे। बिन्दुवाले भाग के लोगों के सिर छोटे और बेडौल थे। नक़शे में स्थल भाग की मोटी रेखा तत्कालीन स्थलभाग को सूचित करती है। हिमयुग की समाप्ति पर मनुष्य के आदिम पुरखे अफ़्रीक़ा के गर्म चरागाहों से चारों ओर फैलने लगे। उनकी शाखाओं के मार्ग और आज की जातियों में बचे हुए उनके स्मारक नक़शे में दिये गये हैं।

मनुष्य की शाखा बन्दरों और बनमानुषों की शाखा से कहाँ और किस अवस्था में मिलती है, इस बात पर विस्तारपूर्वक विचार करने के लिए हमारे पास स्थान नहीं है, क्योंकि इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ वैज्ञानिकों की राय है कि मनुष्य मानव-सम वानरों के धड़ से ऐसे समय में निकले जब इन्होंने अपने वर्तमान लक्षण ग्रहण कर लिये थे; परन्तु यह बात अब सही नहीं मानी जाती। औरों की धारणा है कि मनुष्य और मानव-सम वानर एक ही धड़ से निकले तथा वर्तमान बड़े वानर भी इसी धड़ से निकले। आजकल के अधिकतर लोगों का यही विचार है। परन्तु इसमें भी बहुत भेद है कि इन सबके धड़ से मनुष्य के पुरखे कितनी दूर से निकले। सभी मत वाले यह मानते हैं कि पुरानी दुनिया के बन्दरों की शाखा मनुष्य और बनमानुषों की शाखा से पहले और अधिक प्राचीन अवस्था में अलग हो गई थी। मनुष्य और बनमानुषों के पुरखे एक ही थे, जो शिवालिक के मैदान में मिलनेवाले ड्रायोपिथैकस (Dryopithecus) और सिवैपिथैकस (Sivapithecus) के जैसे प्रस्तर-विकल्पों से मिलते-जुलते रहे होंगे। हाल के कुछ लोगों का मत है कि मनुष्य बनमानुषों की शाखा से कदापि नहीं निकला और उसकी शाखा उनकी शाखा से अलग नीचे के और किसी पूर्वज से मिली है।

यह कहना कठिन है कि इनमें से कौन-सा मत ठीक है, लेकिन मनुष्य, बनमानुषों और बन्दरों की शारीरिक रचना की अच्छी तरह तुलना करते हुए यह विचार ठीक जान पड़ता है कि मनुष्य के अत्यन्त प्राचीन पूर्वज प्रधान-भागीयों की शाखा से उसके सदस्यों पर पुरानी दुनिया के बन्दरों की छाप लगने के पहले ही निकल चुके थे।

आदिम मनुष्यों का जन्म दुनिया के किन भागों में हुआ इसका भी ठीक-ठीक उत्तर देना असम्भव है। परन्तु यह निश्चित है कि हिमालय के दक्षिण में शिवालिक की पहाड़ियों में अफ़्रीक़ा से आये हुए प्राचीन बन-

मानुषों से नये वन-मानुष पैदा हुए। मनुष्य के सबसे प्राचीन प्रस्तर-विकल्प अभी तक भारतवर्ष में कहीं नहीं मिले। यह कहना कठिन है कि वर्तमान मनुष्य की उत्पत्ति भारतवर्ष में हुई है। डार्विन साहब का विचार था कि मनुष्य-वंश का मूल घर अफ़्रीका है। जब सन् १८६१ में एक बड़े प्राचीन मनुष्य की खोपड़ी (पिथैकेन्थ्रोपस) जावा के टापू में मिली, तो यह धारणा की गई कि मनुष्य के उत्पन्न होने की जगह जावा या पूर्वी एशिया है, अफ़्रीका नहीं। जब सन् १६२६ और उसके आगे के वर्षों में चीन में पेकिंग नगर के आस-पास मानव-जाति की कई पूरी खोपड़ियाँ [साइनेनथ्रोपस (*Sinanthropus*)] और हड्डियाँ मिलीं, तब यह बात और भी पक्की हो गई।

लेकिन जब प्राचीन मनुष्यों की ये दो जातियाँ पूर्वी देशों में रहती थीं, दूर के पश्चिमी देशों में एक और जाति इयनथ्रोपस (*Eoanthropus*) घूमती फिरती थी। इसके प्रस्तर-विकल्प विलायत में पिल्टडाउन-नामक स्थान में मिले हैं। लगभग १५ लाख वर्ष पूर्व प्लायोसीन काल समाप्त होने के पहले सारी पुरानी दुनिया में मनुष्य के बिगड़े हुए स्वरूप अवश्य फैले हुए थे। जहाँ तक प्रमाण मिलता है, मनुष्य-वंश से सचमुच मिलनेवाले वानर भारतवर्ष के पश्चिमी भागों में ही पाये जाते थे। इससे यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि मनुष्य-वंश की शैशवावस्था हिमालय और अफ़्रीका के बीच के देश मसोपोटामिया के ही आस-पास बीती होगी। हाल ही में स्वेन हैडेन ने मंगोलिया के रेगिस्तानों में खोज की है और इस खोज में प्राचीन मनुष्य के साथ रहनेवाले बड़े-बड़े जानवरों के प्रस्तर-विकल्प पाये हैं। इससे पता चलता है कि मनुष्य की उत्पत्ति शायद यहीं कहीं या गोबी के रेगिस्तान में हुई हो। रूस के कुछ वैज्ञानिकों ने, लगभग एक वर्ष हुआ, प्रोफ़ेसर कैप्टेरैफ़ के नेतृत्व में एक खोज-सम्बन्धी यात्रा करने का प्रयत्न किया था। कैप्टेरैफ़ का कहना है कि उम्मीद है कि हमें उत्तरखंड के ध्रुव-प्रदेश के आस-पास मनुष्य के पूर्वजों के शव बर्फ़ के भीतर ढके हुए मिलें, जिनसे पता चलेगा कि वे काले थे या गोरे; उनके शरीर पर लम्बे और सीधे बाल थे या छोटे और घुँघराले; वे दाढ़ी रखते थे या नहीं; किसी प्रकार के कपड़े पहनते थे या नहीं; वे लम्बे या सुन्दर थे, अथवा नाटे और बदसूरत; तथा वे बन्दर की-सी शक्ल के थे या नहीं। प्रोफ़ेसर साहब का विचार है कि वे इन प्राचीन मनुष्यों के शवों को ध्रुव-प्रदेश की किसी खोह या गुफा में बर्फ़ में जमे-जमाये पायेंगे।

मनुष्य कितना पुराना है?

मनुष्य कितना पुराना है, इस संबंध में भी विद्वानों में बहुत मतभेद है। सर आर्थर कीथ ने ३-४ वर्ष हुए एक अभिनन्दनपत्र के उत्तर में कहा था कि वर्त्तमानकाल के चारों प्रकार के मनुष्य, अर्थात् श्वेतांग, पीतांग, रक्तांग और कृष्णांग—मध्य प्लायस्टोसीन काल में एक ही शाखा से पैदा हुए थे; किन्तु हाल की कुछ खोजों ने उनको यह विचार बदलने के लिए बाध्य कर दिया है। अब ऐसा जान पड़ता है कि प्लायस्टोसीन काल के आरम्भ में ही, लगभग ५ लाख वर्ष हुए, मंगोल, आस्ट्रेलियन और नीग्रो के पूर्वज महाद्वीपों पर फैल चुके थे। इसके पश्चात् इन सभी जातियों में एक ही से ऐसे परिवर्त्तन हुए जिनकी वजह से वे वानरों के रूप को छोड़कर मनुष्य के रूप को धारण करती गईं; जैसे जबड़ों और दाँतों का छोटा होना, मस्तिष्क का बड़ा होना इत्यादि। जे० रीड मौयर ने हाल ही में कहा है कि सन् १६२६ में पेकिंग में पाया गया मनुष्य दस लाख वर्ष पुराना है। प्लायोसीन काल में पूर्वी इंगलिस्तान में ऐसे बलवान् पूर्वज देखे जाते थे, जो चट्टानों से बड़े-बड़े चिप्पड़ उखाड़ सकते थे और उनसे औज़ार बना सकते थे। इनको लगभग २० लाख वर्ष हो गये। अमरीका के प्रसिद्ध प्रस्तर-विकल्प-शास्त्री (Palæontologist) प्रो० ओसबोर्न का कथन है कि मनुष्य सर आर्थर कीथ तथा अन्य वैज्ञानिकों के बताये हुए समय से ६० लाख वर्ष अधिक पुराना है। वह विश्वास करते हैं कि मनुष्य बन्दरों की शाखा से ६० लाख वर्ष नहीं, वरन् लगभग १ करोड़ ५० लाख वर्ष पहले अलग हुआ। १२ लाख ५० हज़ार वर्ष तो मनुष्य को हाथी तथा अन्य स्तनपोषितों का शिकार करते बीत गये, क्योंकि प्राचीन हाथियों के दाँत मनुष्य के प्रस्तर-विकल्पों के साथ-साथ पाये गये हैं। इसी गणना के अनुसार विलायत में पिल्टडाउन नगर में पाये हुए मनुष्य की आयु १२ लाख ५० हज़ार वर्ष होती है, किन्तु जावा के ट्रिंडल मनुष्य की आयु ६ लाख ही रह जाती है। प्रोफ़ेसर स्विनरटन साहब ने इस विषय के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दरता से निम्न शब्दों में लिखा है—

"वैज्ञानिक लोग थियेटर देखनेवाली जनता की तरह हैं, जो रंगमंच पर एक अभिनेता को एक आवारे का अभिनय करते देखती है और थोड़ी ही देर बाद उसे एक राजकुमार के रूप में सामने पाती है; परन्तु वह पर्दे के पीछे जाकर यह नहीं देख पाती कि उस आवारे ने किस घड़ी और कैसे राजकुमार का भेष धारण कर लिया!"
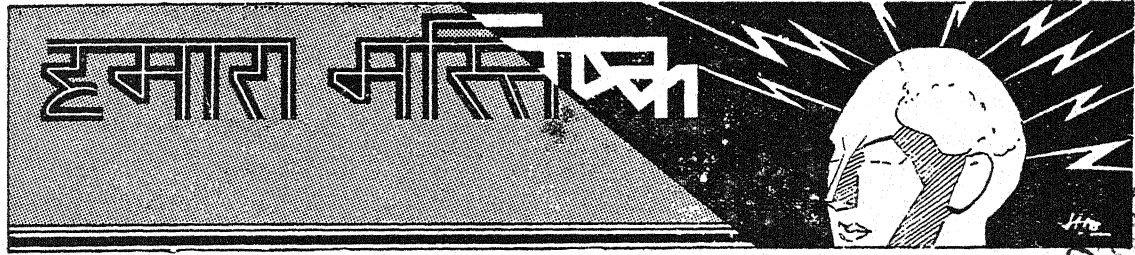
स्थूल मस्तिष्क संबंधी कुछ और बातें

पिछले लेख में हमने मस्तिष्क के स्थूल रूप का मोटे तौर पर दिग्दर्शन किया था, ताकि मानसिक क्रियाओं के अध्ययन के लिए उचित पृष्ठभूमि (back-ground) तैयार हो जाय। इस लेख में उसी सिलसिले में कुछ और बातें बताना आवश्यक समझते हैं, जिनकी जानकारी मनोवैज्ञानिक अध्ययन में सहायक होगी। अगले लेख से हम मनोविज्ञान का विधिवत् अध्ययन आरंभ करेंगे।

यदि हम पूरे स्थूल मस्तिष्क को तौलें, तो पायेंगे कि बृहत् मस्तिष्क, जो अन्य भाग की तुलना में स्थूल मस्तिष्क में नई वृद्धि है, समूचे मस्तिष्क का लगभग ८७·५ प्रतिशत भाग है। इस समूचे पदार्थ में महत्व की वस्तु वह वल्क है, जो बृहत् मस्तिष्क के ऊपर पपड़ीनुमा मुड़ा-मुड़ा-सा रहता है। यह वल्क भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न परिमाण में होता है, और कदाचित् इसीलिए मानव-मानव में हमें बुद्धि-विभेद दिखाई पड़ता है। प्रसिद्ध फ्रेंच मानव-प्राणी-शास्त्री ब्रोसा का मत है कि बृहत् मस्तिष्क के किसी गोलार्द्ध की सामनेवाली घाई पर के वल्क के किसी भाग के नष्ट हो जाने से उसकी विपरीत दिशा के हस्त-प्रधान आदमी की शब्दस्मृति लोप हो जाती है। अर्थात् यदि बृहत् मस्तिष्क के वाम गोलार्द्ध में उक्त बात घटेगी, तो प्रधानतया दायें हाथ से काम लेनेवाले आदमी पर असर पड़ेगा और दायें गोलार्द्ध में घटने से बायें हस्त-प्रधान आदमी पर।

उक्त वल्क चार छोटे-छोटे टुकड़ों (Lobes) में घाइयों द्वारा विभाजित होता है। यह घाइयाँ निरन्तर और गहरी होती हैं। इन टुकड़ों (Lobes) में भी कितनी ही छोटी-छोटी घाइयाँ बनी होती हैं। उक्त चार टुकड़े १—सम्मुख या ललाट भाग (Frontal Lobe), २—शीर्ष भाग (Parietal Lobe), ३—पार्श्व भाग (Temporal Lobe) तथा ४—पृष्ठ भाग (Occipital Lobe) कहलाते हैं, जिनका अंग्रेज़ी नामकरण खोपड़ी की चार हड्डियों के नाम पर हुआ है।

इन विभागों का नाम जानने के बाद हमारे मन में इस जिज्ञासा का उठना स्वाभाविक हो जाता है कि क्या वल्क के पृष्ठ-भाग का सम्बन्ध दृष्टि से अथवा पार्श्व-भाग का सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय से तो नहीं है, क्योंकि प्राणी-शरीरशास्त्र का यह निश्चित और प्रमाणित मत है कि किसी अंग की स्थिति, रचना और क्रिया में अवश्य ही कोई-न-कोई सम्बद्धता होती है। किन्तु इस प्रकार उक्त वल्क के किसी निश्चित और विशेष भाग में किसी विशेष क्रिया के सम्पादन के स्थानीकरण के प्रयत्न के लिए हमें समूचे वल्क पर विचार करना होगा। न केवल उसके ऊपरी सतह का ही बल्कि निचली सतह को भी विचार के क्षेत्र में लाना होगा। यह निचली सतह बृहत् मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों को अलग करके देखी जा सकती है।

मस्तिष्क के सर्वश्रेष्ठ सर्जन सर विक्टर हार्सली की खोजों से 'मानसिक स्थानीकरण' (Brain Localisation) के सिद्धान्त की नींव काफ़ी मज़बूत हुई है। इस अनुसंधान का व्यावहारिक मूल्य यह है कि जब एक व्यक्ति को दृष्टि-दोष या लक़वा आदि हो जाता है, तब हम 'मानसिक स्थानीकरण' के ज्ञान से यह नतीजा निकाल सकते हैं कि उस व्यक्ति के स्थूल मस्तिष्क का कौन-सा विशेष क्षेत्र अव्यवस्थित हो रहा है। कोई भी बाहरी चिह्न दृष्टिगोचर न होते हुए भी मस्तिष्क का सर्जन खोपड़ी के एक खास भाग को खोलेगा, जिसे वह वल्क के उक्त विशेष भाग के ठीक ऊपर समझेगा, जहाँ अव्यवस्था हो गई होगी; और वहाँ उसे किसी हड्डी की असाधारण मोटाई या ऐसी ही कोई अन्य अव्यवस्था दिखाई दे सकती है। उस अव्यवस्था को वह दूर कर सकता है और अपने रोगी को आराम कर सकता है।

इतनी खोज के बाद भी हम पाते हैं कि वल्क का अधिकांश भाग ऐसा है, जिसकी उपयोगिता का हमको पता नहीं है। वह भाग बिलकुल अक्रियाशील-सा लगता है। अनुमान यह किया जाता है कि उक्त अक्रियाशील क्षेत्र बुद्धि के विकास से सम्बन्धित है। इसके लिए एक प्रमाण यह मिलता है, जैसा कि डॉ० हगलिङ्गस जैक्सन का मत है, कि वात-सूत्र-प्रणाली धरातलों के एक सिलसिले से बनी हुई है, और वे धरातल एक-दूसरे पर बिछे हुए हैं। इनमें का सबसे ऊपरी धरातल विकास के क्रम में नवीनतम है। इस सत्य को हम तब स्वीकार करते हैं, जब हम 'वल्क' (Cortex) को मस्तिष्क का नवीनतम परिधान या ढक्कन कहते हैं। इस वल्क में यह अक्रियाशील क्षेत्र अन्य भाग की अपेक्षा अपनी नवीनता प्रकट करता है। इसलिए वल्क का यह अक्रियाशील भाग मस्तिष्क का नवीनतम और उच्चतम अंग समझा जाना चाहिए, जिससे मानव मस्तिष्क की प्रगतिशीलता का परिचय मिलता है।

यद्यपि छोटी-छोटी विस्तार की बातों में प्रत्येक स्थूल मस्तिष्क में कुछ-न-कुछ विभिन्नता अवश्य होती है, फिर भी साधारणतया सभी बातें समान होती हैं। जैसा कि पहले लेख में बतलाया जा चुका है, 'बृहत् मस्तिष्क' दो गोलार्द्धों में विभाजित है। इन्हें वाम और दक्षिण गोलार्द्ध कहते हैं। ये एक दरार के द्वारा अलग होते हैं और इन पर भूरे पदार्थ की एक पपड़ी-सी पड़ी रहती है, जो साँप की कुण्डली की तरह भीतर के सफ़ेद पदार्थ पर छायी रहती है। यह कुण्डलीनुमा पपड़ियाँ बहुत ही असमान होती हैं और इस कारण इन गोलार्द्धों के धरातल खूब ऊबड़खाबड़ होते हैं। जितना ही ऊँचा धरातल होगा, मस्तिष्क में उतना ही अधिक रक्त का संचार हो सकेगा। साधारणतया बुद्धि की मात्रा उक्त भूरे पदार्थ की कुण्डलियों की संख्या के अनुपात में ही होती है। अब यह निश्चित हो चुका है कि बृहत् मस्तिष्क ही विवेक, बुद्धि, इच्छा और भावना आदि का प्रधान केन्द्र है।

'बृहत् मस्तिष्क' की तरह 'लघु मस्तिष्क' भी दो गोलार्द्धों से बना हुआ होता है और उसकी सतह पर भी उक्त धूसर पदार्थ की कुण्डलीनुमा जमावट होती है, किन्तु वह जमावट 'बृहत् मस्तिष्क' की तुलना में अधिक क्रमबद्ध और नियमित होती है।

यही लघु मस्तिष्क शारीरिक गतियों का संचालन और नियमन करता है। चलना, दौड़ना, कूदना, उठना, बैठना आदि क्रियाएँ लघु मस्तिष्क के ही संकेत और आज्ञा पर होती हैं। यदि 'लघु मस्तिष्क' में कोई खराबी पैदा हो जाय, तो आदमी किसी अंग को हिला तो सकेगा, पर वह शरीर का संतुलन स्थिर नहीं रख सकेगा, फलतः वह चल नहीं पायगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि 'लघु मस्तिष्क' से विभिन्न अंगों की अपने आप होनेवाली गति पैदा नहीं होती, वरन् उसका नियन्त्रण मात्र उसके द्वारा होता है।

स्थूल मस्तिष्क की भीतरी सतह से वात-तंतुओं के १२ जोड़े निकलते हैं। इनमें का पहला जोड़ा गन्ध-तन्तु या घ्राण-नाड़ियों का होता है, जो नाक के भीतरी प्रदेश अर्थात् घ्राण प्रदेश तक जाता है।

दूसरा जोड़ा दृष्टि-तन्तु अथवा दृष्टि-नाड़ियों का होता है। तीसरा जोड़ा, जो 'दृष्टि-संचालक-तंतु' कहलाता है, उन मांस-पेशियों तक जाता है, जिनसे आँख की पलकों का संचालन होता है। चौथा जोड़ा भी आँखों की गति से संबंधित है।

तंतुओं के पाँचवें जोड़े में सबसे बड़े तंतु होते हैं, जिनमें चालक या गति-संबंधी (Motor) और ज्ञान-वाहक या सांवेदनिक (Sensory) दोनों प्रकार के तंतु होते हैं। इनके द्वारा चेहरे के चमड़े तथा निचले जबड़े और जीभ की मांस-पेशियाँ गति प्राप्त करती हैं।

छठा जोड़ा उन मांस-पेशियों तक जाता है, जो पलकों को बाहर की ओर मोड़ती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि आँख की मांस-पेशियाँ तीन स्पष्ट वात-तंतुओं के जोड़ों से वात-सूत्र प्राप्त करती हैं।

वात-तंतुओं का सातवाँ जोड़ा चेहरे की मांस-पेशियों को वात-सूत्र प्रदान करता है। आठवें जोड़े को श्रवण-तंतु या श्रावणी नाड़ियाँ कहते हैं। नवाँ जोड़ा दो प्रकार के तंतुओं अर्थात् चालक-तंतुओं और ज्ञान-तंतुओं से मिलकर बना होता है। अतः उनमें एक के द्वारा हलक़, जीभ, नाक आदि के संधि-स्थान की मांस-पेशियाँ गति प्राप्त करती हैं, तथा दूसरे के द्वारा हमें स्वाद का ज्ञान होता है।

वात-तंतुओं का दसवाँ जोड़ा भी मिश्रित प्रकार का होता है। इससे हलक़, फेफड़े, कलेजे, पेट और लिवर या प्लीहा का संचालन होता है। ग्यारहवाँ जोड़ा चालक नाड़ियों का होता है, जिनसे गर्दन की कुछ मांस-पेशियाँ संचालित होती हैं। बारहवाँ जोड़ा भी चालक नाड़ियों ही का होता है, जिनसे जीभ की मांस-पेशियों को वात-सूत्र प्राप्त होते हैं।

यदि कोई सांवेदनिक या ज्ञान-तंतु चोट खा जाता है तो अनुभूति मर जाती है और यदि कोई चालक या गति-संबंधी तंतु बिगड़ जाता है, तो अंग विशेष की गति नष्ट हो जाती है, जैसे लकवा आदि रोगों में होता है।

खोपड़ी के नीचे लगभग ढाई इंच लम्बी सफ़ेद और भूरे रंग की एक गुद्दी होती है, जिसे 'महासंयोजक' कहते हैं। इसी के द्वारा निगलने और साँस लेने जैसी इच्छा से परे की क्रियाओं का नियन्त्रण होता है। स्थूल मस्तिष्क और सुषुम्ना (Spinal Cord) के बीच सम्बन्ध का यही एकमात्र साधन होता है। यदि यह नष्ट हो जाय, तो तुरन्त मृत्यु हो जाय, क्योंकि इसके नष्ट होते ही साँस लेने की क्रिया बन्द हो जाती है।

अब हम सुषुम्ना पर आते हैं। एक लम्बा पतला वात-सूत्र 'महासंयोजक' से शुरू होकर रीढ़ की हड्डी के भीतर से होता हुआ उसके अन्त तक जाता है। यही सुषुम्ना है। यह सूत्र लगभग १८ इंच लम्बा होता है और मोटाई में कनिष्ठा उँगली जैसा और कहीं-कहीं उससे भी मोटा होता है। सुषुम्ना भी उन्हीं तीन प्रकार के आवरणों से ढकी होती है जिनसे कि स्थूल मस्तिष्क आच्छादित रहता है। इससे बड़े-बड़े वात-सूत्र निकलकर चारों ओर शरीर की लम्बाई-चौड़ाई में फैले होते हैं। इन्हें 'सुषुम्ना-तंतु' कहते हैं। जैसा कि पिछले लेख में बताया जा चुका है, यह सुषुम्ना एक दरार के द्वारा दक्षिण और वाम इन दो भागों में विभाजित होती है। सुषुम्ना का निम्नतम भाग घोड़े की दुम जैसा होता है, क्योंकि वहाँ पर तंतु-जाल एक सूत के बण्डल-जैसा हो जाता है। यदि किसी स्थान पर सुषुम्ना कट जाय या ज़ख्मी हो जाय, तो उस स्थान के नीचे 'स्वयंमेव गतिशीलता' अथवा 'परा-वर्त्तित क्रिया' नष्ट हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि मस्तिष्क से अंग-प्रत्यंग तक तथा अंग-प्रत्यंग से मस्तिष्क तक अनुभूति और गतिशीलता का वाहक यही सुषुम्ना का वात-तंतु-जाल है। सौषुम्न नाड़ियों या तंतुओं के कुल ३१ जोड़े हैं, जो सुषुम्ना से निकलकर भिन्न-भिन्न अंगों की ओर जाते हैं। सौषुम्न तंतुओं के अतिरिक्त एक और नाड़ी-मंडल शरीर में होता है, जो 'पिंगल नाड़ी जाल' कहलाता है। पिंगल नाड़ियों का सौषुम्न नाड़ियों से महत्त्वपूर्ण संबंध है। इन नाड़ियों की रचना, स्थिति, कार्य आदि का विस्तृत विवरण 'हम और हमारा शरीर' शीर्षक स्तंभ में दिया जायगा।

अब हम स्थूल मस्तिष्क की एक विशेष क्रिया पर आते हैं। अगर एकाएक हमारी उँगली जलने लगे, तो हम उसे मस्तिष्क को सोचने का अवसर देने के पहले ही आप-ही-आप खींच लेते हैं। इसी तरह जब कोई हमारी आँख के सामने उँगली लाता है, तो हमारी आँख के पलक एक-दम झपक जाते हैं, या हमारा हाथ आप-ही-आप उठकर हमारी आँख के सामने आ जाता है। यह काम बिना हमारी इच्छा के आप-ही-आप हो जाता है और इतनी फुर्त्ती के साथ होता है कि इस संबंध में सोचने या इच्छा करने का समय ही हमें नहीं मिलता। इस क्रिया को 'परावर्त्तित क्रिया' या 'स्वयं प्रेरित क्रिया' (Reflex Action) कहते हैं। इस तरह की क्रियाएँ लाखों की संख्या में हमारे शरीर में नित्य प्रति होती रहती हैं, जिनकी चेतना तक हमको नहीं होती, किन्तु जिनके बन्द हो जाने का अर्थ होता है, तत्काल मृत्यु। यह बात नहीं है कि ये क्रियाएँ बिना मस्तिष्क की सहायता के ही हो जाती हों। वास्तव में ये क्रियाएँ बहुत बारीकी के साथ होती हैं और इसीलिए इनका शीघ्र पता हमें नहीं चलता। उदाहरण के लिए जब हमारी उँगली पर कोई एकाएक काँटा या सुई चुभोता है और उसी समय जब आप ही आप बिना हमारी आज्ञा के हमारी उँगली झटके के साथ वहाँ से हट जाती है, तब निम्न क्रिया होती है। सुई के चुभते ही उँगली की त्वचा के सांवेदनिक या केन्द्रगामी तंतुओं द्वारा इस बात की सूचना सुषुम्ना में पहुँचती है, और वहाँ से मस्तिष्क को जाती है। सुषुम्ना में प्रवेश करने पर केन्द्रगामी तंतु कई भागों में विभाजित हो जाता है। इनमें से एक छोटा भाग सुषुम्ना ही में समाप्त हो जाता है। बड़ा भाग मस्तिष्क को जाता है। मस्तिष्क तक सूचना पहुँचने में देर लगती है। इस बीच सुषुम्ना के वात-कोष स्वयं कार्य करने लगते हैं और मस्तिष्क से सूचना मिलने के पूर्व ही वे केन्द्रत्यागी तारों की पेशियों को संकोच करने की आज्ञा दे देते हैं, जिससे उँगली तुरंत अपने स्थान से हट जाती है। इतने में मस्तिष्क को सूचना पहुँच जाती है और वह निर्णय कर लेता है कि क्या करना चाहिए। यदि सुषुम्ना द्वारा दिये गये आदेश को मस्तिष्क उचित नहीं समझता तो फिर से वह नई आज्ञा देकर उँगली पूर्व स्थान में हटा देता है, वरना सुषुम्ना के आदेश को ही स्थिर रखता है। इस प्रकार की परावर्त्तित क्रियाएँ प्रायः हमारे शरीर की रक्षा करने ही के निमित्त होती हैं।

'स्वयं-चालित क्रिया' का ज़िक्र आने पर आधुनिक शरीर-शास्त्र का विद्यार्थी युगान्तरकारी रूसी वैज्ञानिक पोफ़ोलोफ़ (Povolov) की उपेक्षा नहीं कर सकता, चाहे कोई उसके सिद्धान्तों से—जो अभी गत महायुद्ध के बाद प्रकाश में आये हैं—सहमत हो अथवा असहमत। पोफ़ोलोफ़ ने अपनी खोजों के दर्मियान देखा था कि शरीर-यंत्र की आवश्यकता के अनुसार बड़ी बारीकी के साथ लाला-ग्रंथियों (Glands) का नियन्त्रण और नियमन होता है। अगर सूखा खाना मुँह में लिया जाता

है, तो राल अपने आप अधिक निकलती है ताकि मुँह में का सूखा खाना अपने आप तर हो जाय। इसके विपरीत तरल पदार्थों के खाने में राल की मात्रा और उसकी जमावट बहुत कम होती है। ये क्रियाएँ साधारणतया मस्तिष्क के अध्ययन के दायरे में आती हुई नहीं लगतीं, क्योंकि इन स्वयंचालित क्रियाओं में मस्तिष्क कोई स्पष्ट काम करता हुआ नहीं प्रतीत होता। पर आगे हम देखेंगे कि मानसिक क्रिया से इनका स्पष्ट सम्बन्ध है।

ये स्वयंचालित क्रियाएँ (Reflex Actions) पोफ़ोलोफ़ के मत के अनुसार दो प्रकार की होती हैं—एक अभ्यस्त और दूसरी स्वाभाविक। इसका अन्तर निम्न प्रयोग से समझा जा सकता है, जिसे पोफ़ोलोफ़ ने स्वयं किया था। एक कुत्ते को एक शान्त कमरे में बन्द करके अगर ऊपर से किसी छेद के ज़रिये कोई बर्तन लटकाया जाय, तो पहले दिन वह बर्तन की आवाज़ सुनकर शान्त रहेगा और जब बर्तन ज़मीन पर आ लगेगा, तब उठकर उसे सूँघेगा, चाटेगा और फिर खाना शुरू करेगा। परन्तु इस तरह अगर बार-बार और नित्यप्रति किया जाय तो वह कुत्ता बर्तन के खटकने को ही खाना पहुँचने का संकेत समझ लेने का आदी हो जायगा और उसके शब्द के साथ ही जीभ चाटना, दुम हिलाना, लोटना-पोटना आदि शुरू कर देगा। उसकी यह आदत या क्रिया अर्जित अथवा अभ्यस्त होगी, जब कि पहले दिन की उसकी क्रिया स्वभाव-सिद्ध कही जायगी। किन्तु इस प्रकार अर्जित या अभ्यस्त क्रिया से स्वाभाविक क्रिया अधिक शक्तिसम्पन्न और दृढ़ होती है; क्योंकि अभ्यस्त क्रिया में मस्तिष्क की बहुत उलझी हुई क्रियाएँ होती हैं।

अगर कोई अपने नित्य के कामों पर ग़ौर करे और यह विचार करे कि उनमें का कितना अंश उसके निज के अनुभवों से कार्यान्वित होता है और कितना स्वभावतः, तो उसकी समझ में अर्जित और स्वाभाविक क्रियाओं का अंतर बड़ी आसानी से आ सकता है, यद्यपि इसमें भी ग़लतफ़हमी होने की गुंजायश है और कई अर्जित आदतों से होनेवाली क्रियाएँ भूल से स्वभावसिद्ध समझी जा सकती हैं, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान इस बात को अधिकाधिक सिद्ध करता जाता है कि हमारी बहुत-सी क्रियाएँ जो स्वभाव-सिद्ध समझी जाती हैं, बचपन की किन्हीं विस्मृत घटनाओं पर निर्भर रहती हैं।

पोफ़ोलोफ़ की खोज का मूल सूत्र यह है कि बृहत् मस्तिष्क के गोलार्द्धों की क्रियाएँ दो विरोधी प्रणालियों (Processes) के पारस्परिक संघर्षण द्वारा नियन्त्रित होती हैं, और वे प्रणालियाँ हैं—उत्तेजन (Excitation) और अवरोध (Inhibition)।

उदाहरण के लिए 'हृदय' (Heart) को लिया जाय। हृदय एक स्वयं-चालित पम्प जैसा यंत्र है। यदि यह शरीर से निकाल लिया जाय और इसकी ठीक देख-भाल रक्खी जाय, तो भी वह चलता रह सकता है, लेकिन शरीर में उसकी गति जिस प्रकार नियन्त्रित होती है, वह बाहर नहीं हो सकती। शरीर में कभी उसकी गति तेज़ और कभी धीमी होती रहती है, ताकि वह शरीर की आवश्यकताओं को पूरी कर सके। इसके लिए हृदय के नीचे दो जोड़े वात-सूत्र के होते हैं, जिनमें एक संदेशवाहक है, जो हृदय की गति को तेज़ करता है; दूसरा है संदेश का संचय करनेवाला, जो उसे धीमा करता है। पहला हृदय को उत्तेजन प्रदान करता है और दूसरा उसका उचित अवरोध करता है।

अब देखा जाय कि साधारणतया किस तरह गति उत्पन्न होती है। हमारे सभी विचार, चिन्तन की क्रियाएँ और इच्छायें 'बृहत् मस्तिष्क' (Cerebrum) में पैदा होती हैं। ज्योंही एक अंग को हिलाने की इच्छा पैदा होती है, त्योंही बृहत् मस्तिष्क से एक 'वात-प्रवाह' शरीर के उस भाग की ओर प्रवाहित होता है, जिधर वह अंग विशेष होता है और उस तरफ़ से होते हुए वह 'महासंयोजक' तक जाता है। 'महासंयोजक' से एक 'शक्ति-प्रेरणा' (Motor Impulse) सुषुम्ना के ऊपर से उसके नीचे तक गुज़रती है और वहाँ से वात-तंतुओं के द्वारा वह उस अंग विशेष तक पहुँचती है। तब कहीं जाकर वह अंग विशेष शक्ति प्राप्त करता है और गतिशील होता है।

इस क्रिया में एक विचित्र बात हम यह देखते हैं कि एक प्रेरणा जो स्थूल मस्तिष्क के दक्षिण भाग में उठती है, वह महासंयोजक के रास्ते मस्तिष्क के वाम भाग को जाती और वहाँ से सुषुम्ना के वाम भाग के नीचे तक उतरकर शरीर के वाम भाग में स्थित अंग विशेष में वितरित हो जाती है।

इसी प्रकार 'ज्ञान-प्रेरणा' (Sensory Impulse) भी, जो किसी ज्ञान इन्द्रिय से उठती है, बृहत् मस्तिष्क से गुज़रकर शरीर के दूसरे भाग को जाती है, और उस प्रेरणा के गुज़रने का मार्ग भी महासंयोजक से होकर ही है। अतएव मस्तिष्क की तार-बर्क़ी के आफ़िस में बृहत् मस्तिष्क और महासंयोजक मानो 'एक्स्चेंज' का काम करते हैं।

मानव परिवार का विकास
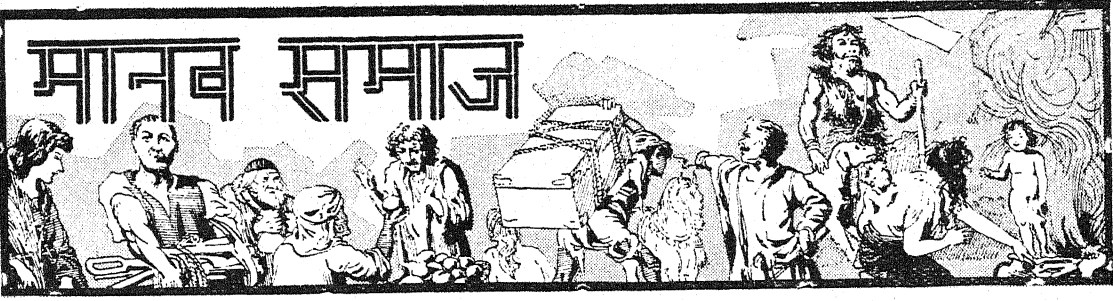
पिछले प्रकरणों में मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास और उसकी आर्थिक भित्ति का व्यापक रूप से दिग्दर्शन किया गया है; यह लेख मनुष्य-समाज की विशाल इमारत की छोटी-से-छोटी इकाई (unit) "परिवार" की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन है।

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक जीव है और सदा समाज में रहने की इच्छा करता है। समाज में रहना मनुष्य ने आवश्यकतावश सीखा और बहुत काल तक उसका पालन करने से आज यह उसका एक स्वाभाविक गुण हो गया है। मनुष्य-जाति के विकास-क्रम के इतिहास-शास्त्र अर्थात् मानव-विज्ञान (Anthropology) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि किसी काल में छोटे-छोटे समूहों में रहना मनुष्य के लिए आवश्यक तथा लाभदायक प्रमाणित हुआ और इसी प्रकार के जीवन से संगठित जीवन की नींव पड़ी। मनुष्य-जाति की सबसे पुरानी और छोटी सुसंगठित संस्था को 'परिवार' कहते हैं। अथवा यों कह सकते हैं कि पति-पत्नी तथा उनकी सन्तान के समूह का ही नाम 'परिवार' है।

परिवार-संस्था के निर्माण का कारण, उसका विकास-क्रम, और उसके भिन्न भिन्न रूप-रूपान्तर को जानने के लिए हमें बहुत प्राचीन इतिहास-काल का निरीक्षण करना पड़ेगा। परिवार-संस्था की स्थिति पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है; किन्तु वह दशा बहुत प्रारम्भिक और असंगठित है। नीची श्रेणी के पशुओं में पति-पत्नी और बच्चों का एकत्रित समूह में रहना एवं पक्षियों में नर व मादा का समागम हो चुकने के पश्चात् भी घोंसले का निर्माण करने, अण्डा सेने तथा उन छोटे-छोटे बच्चों की, जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते, रक्षा करने में परस्पर सहयोग देना आदि क्रियाएँ मनुष्य-परिवार के मुख्य कार्यों से बहुतांश समता रखती हैं।

मनुष्य-परिवार के निर्माण के सम्बन्ध में विशेषकर तीन धारणाएँ हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक युग में मनुष्य का शारीरिक विकास समाज-संगठन के साथ-साथ ही हुआ। उनके मत के अनुसार परिवार का रूप मनुष्य के विकास के अनुकूल बदलता रहा है। उन्होंने समय को तीन काल में विभाजित किया है—आदिकाल, जंगलों का समय और आज का युग। इस मत के प्रमुख लेखक बेकोफ़ेन, मेक्लीनेन और मोर्गेन हैं। उनका कथन है कि आदिकाल में, जब विवाह-पद्धति की स्थापना नहीं हुई थी, मानव-समाज में स्त्री-पुरुष का विवेकरहित समागम होता था। पुरुष तथा स्त्रियाँ छोटे-बड़े समूहों में साथ-साथ रहते थे। स्वेच्छानुकूल कोई पुरुष किसी स्त्री के साथ इच्छा-पूर्ति कर सकता था। एक स्त्री का सदा किसी विशेष पुरुष के साथ ही समागम होना आदिकाल के बाद अर्थात् जंगलों की सभ्यता के समय में स्थापित हुआ। इसका कारण ये लोग यह बतलाते हैं कि आदिकाल में मनुष्य को व्यक्तिगत संपत्ति रखने का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था। ऐसे समय में सन्तान माता के ही साथ रहती थी। उनकी धारणा तो यहाँ तक है कि इस समय में मनुष्य को सन्तानोत्पत्ति के कारण का ज्ञान ही नहीं हुआ था और न वह यह ही समझता था कि सन्तानोत्पत्ति में पुरुष का कितना भाग है। मातृसत्तावादी परिवार का जन्म और उसकी स्थापना भी इसी समय में बतलायी जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के विचार जंगलों की सभ्यता के समय में उत्पन्न हुए, जब मनुष्य पशु पालने, चरागाह रखने अथवा खेती का कार्य करने लग गया था। बड़े परिवार की आवश्यकता इसलिए हुई कि वंश का मुखिया या पितामह अपने परिवार की सहायता से एक दूसरे की रक्षा कर सके और अपने द्वारा खोजे अथवा विजय किये हुए चरागाहों या खेतों को सुरक्षित रख सके। इस

युग में पुरुष ने स्त्री और सन्तान को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझा और इस प्रकार मातृसत्तावादी परिवार पितृसत्तावादी परिवार में परिणत हो गए तथा 'परिवार' वास्तविक रूप में एक निकट-सम्बन्धियों का समूह हो गया। मिश्रित परिवार भी इसी युग में स्थापित हुए, जब मनुष्य पति-पत्नी के छोटे समूहों में विभाजित होकर भी अपने सम्बन्धियों व बान्धवों के साथ रहने लगे। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के जन-समूहों (hordes) ने व्यक्तिगत परिवार (families) का रूप धारण कर लिया। पति-पत्नी-समूह का निर्माण इसलिए भी हुआ कि स्त्री-जाति अविवेकी समागम से थककर इस प्रथा से घृणा करने लगी। इसलिए निश्चित रूप से किसी विशेष व्यक्ति से विवाह करने की प्रथा आरम्भ हुई। इस युग में स्त्री और सन्तान पुरुष के अधीनस्थ रहे। क्रमशः स्त्री के व्यक्तित्व का विकास हुआ और धीरे-धीरे उसकी दासता की बेड़ी शिथिल हुई। आज परिस्थिति इस सीमा को पहुँच चुकी है कि स्त्री-जाति विवाह के बन्धन में फँसना ही नहीं चाहती। सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में भी जहाँ बड़ा परिवार होना सौभाग्य का चिह्न समझा जाता था और परिवार-वृद्धि के लिए पुरुष अनेक विवाह तक करते थे, वहाँ अब स्त्रियाँ गर्भधारण करना तक नहीं चाहतीं। सारांश यह है कि अब स्त्री-जाति ने अपने व्यक्तित्व को पहचाना है। स्त्री अब किसी प्रकार भी पुरुष की आज्ञाकारी दासी नहीं बनना चाहती, वरन् पुरुष के बराबर होने का दावा करती है। परिवार के विकास-क्रम की यह धारणा 'उत्क्रान्तिक धारणा' (Evolutionary hypothesis) कहलाती है।

परिवार-विकास की दूसरी कल्पना यह है कि परिवार का रूप आर्थिक आवश्यकताओं अथवा आर्थिक स्थिति के अनुकूल बदलता रहा है। यह धारणा 'आर्थिक निर्माण आधार' (Economic determinism) के नाम से प्रसिद्ध है। कार्ल मार्क्स की धारणाएँ इस विचार की पुष्टि करती हैं। इस अनुमान के अनुसार आर्थिक विकास के क्रम के साथ-साथ परिवार का रूप हर समय में भिन्न-भिन्न रहा है। मनुष्य-परिवार का निर्माण आर्थिक जीवन को सरल बनाने के हेतु हुआ था। बच्चों का पालन-पोषण, रक्षा, भोजन-प्रबन्ध, निवास-गृह की आवश्यकता इत्यादि को पूर्ण करने के लिए माता-पिता व सन्तान एक स्थान पर सामूहिक रूप से रहने के लिए बाध्य हुए। और यही सुसंगठित परिवार का मुख्य ध्येय है। प्रारम्भिक समय में, अर्थात् उस काल में जब केवल मृगया ही मनुष्य का आधार था, बच्चों के पालन-पोषण तथा उनकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का भार पूर्णतया माता पर ही रहता था और वह भी उस समय तक जब तक कि बच्चे स्वयं अपने भोजनादि का प्रबन्ध करने को समर्थ न हो जायँ। दूसरी ओर पिता अपनी शक्ति का प्रयोग मृगया में करता था और आखेट द्वारा प्राप्त भोजन से अपने परिवार का उदर-पोषण करता था। अतः इस काल में वंश-संगठन बहुत ढीला था। चरवाहों के समय में मनुष्य का निवास-स्थान कुछ स्थिर हो गया था और उस समय पति-पत्नी व उनकी संतान एकत्रित होकर रहने लगे थे। अतएव इस परिवार को किसी अंश तक संगठित कह सकते हैं, क्योंकि इस समय हम परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को एक दूसरे की सहायता करते पाते हैं। खेती के समय में भोजनादि की सामग्री अधिकांश में निश्चित हो गई थी, परन्तु खेती के कठिन

आदि युग में मनुष्य

स्त्री द्वारा संतान का पालन-पोषण और पुरुष द्वारा उनकी रक्षा की नैसर्गिक भावनाओं के रूप में भावी परिवार के सूक्ष्म बीज आदि युग ही में मनुष्य के पुरखों में विद्यमान रहे होंगे।

आखेट के युग में मानव परिवार का रूप

['अमेरिकन म्यूजियम ऑफ़ नेचरल हिस्ट्री' के एक चित्र से]

परिश्रम के कारण पुरुष को स्त्रियों की सहायता लेना आवश्यक था। इस युग में मनुष्य का एक स्थान पर रहना निश्चित हो गया। अब वह बेघर-बार का घुमक्कड़ शिकारी नहीं रहा, वरन् अपने परिवारसहित निर्दिष्ट स्थान पर अधिक काल तक रहने लगा। इस तरह उसका परिवार अत्यन्त सुसंगठित अवस्था में परिणत हो गया। आर्थिक क्रम के चौथेपन में अर्थात् कला-कौशल के समय में इस पारिवारिक संगठन में शिथिलता के चिह्न दिखाई देने लगे, और अब तो परिवार का रूप ही कुछ नये ढंग का होता जा रहा है। कहीं-कहीं तो वर्तमान आर्थिक प्रणाली का प्रभाव इतना प्रचण्ड हुआ है कि पुरातन परिवार-संगठन के चिह्न ही लुप्त हो गये हैं। यदि खेती के कार्य ने परिवार-संगठन करवाया, तो आजकल कारखानों ने परिवार को पुनः भङ्ग कर दिया। आज मनुष्य-जाति दो बड़े दलों में विभाजित हो गई है। इन दोनों दलों के पारिवारिक जीवन में असमानता है। एक दल को पूँजीपति और दूसरे को श्रमजीवी कहते हैं। कलों के प्रचार से पूँजीपति-परिवार-संगठन को विशेष हानि नहीं हुई। उलटे इस दल के पुरुष के धनोपार्जन के कार्य में स्त्रियों तथा बच्चों का भाग लेना अब अनिवार्य नहीं रहा, क्योंकि इस पूँजीपति वर्ग को धन की अधिकता के कारण यह विश्वास हो गया कि स्त्रियों और बच्चों की सहायता के बिना भी उनका जीवन धनाभाव से दुखी नहीं हो सकता। दूसरे यह बात भी थी कि इस वर्ग की स्त्रियाँ और बच्चे इन नवीन साधनों से अनभिज्ञ थे और कलों के संचालन का परिश्रम करने में यदि सर्वथा नहीं तो अधिकांश में अवश्य असमर्थ थे।

इस नवीन आर्थिक प्रणाली का घोर वज्र दलित श्रमजीवियों पर ही पड़ा है। कलों के प्रचार से ग्रामीण स्त्रियों, बच्चों और कारीगरों की जीविका जाती रही। ऐसी संकटजनक अवस्था में दुःखी तथा क्षुधा-पीड़ित मनुष्य कारखानों में मज़दूरी करने को उद्यत हुए और इस प्रकार उपार्जित धन से जीवन-निर्वाह करने लगे। कारखानों के इस युग में बहुत-से श्रमजीवी एक स्थान पर एकत्रित होकर कार्य करते हैं, इसलिए उन्हें अपने सुख-सम्पन्न गृहों और स्त्री-बच्चों को छोड़कर घर से दूर रहना पड़ता है। यहीं से परिवार के संगठित रूप में बाधा प्रारंभ होती है। औद्योगिक नगरों में श्रमजीवी व्यापारी तथा अन्य व्यापार सम्बन्धी जनसमूह के एकत्रित होने से रहन-सहन का खर्च बहुत बढ़ जाता है, और निवासगृहों की कमी पड़ जाती है। इसलिए अल्पवेतनीय श्रमजीवी अपने परिवार को उद्योग-स्थान में अपने साथ नहीं रख पाते। उनका परिवार-सम्पर्क यदा-कदा होता है, सो भी उस समय जब कि वे कारखानों से छुट्टी लेकर कभी अपने गाँव को जा पाते हैं। दूसरी बात यह है कि निजी उद्योग के नष्ट हो जाने से परिवार की आय भी घट गई है और स्त्री व पुरुष दोनों कलों में कार्य करने के लिए बाध्य हो गये हैं। यह भी सदैव सम्भव नहीं कि पति व पत्नी एक ही कारखाने में कार्य कर सकें। ऐसी दशा में पति-पत्नी सप्ताह में विशेष दिनों ही में एक समय पर मिल पाते हैं। सन्तान को भी माता-पिता के साथ रहने और पारिवारिक सुख पाने का अवसर संयोग ही से मिलता है। कारखानों में काम करने के बाद जब थकित माता-पिता घर आते हैं तब उन्हें विश्राम के अतिरिक्त कोई पारिवारिक चर्चा नहीं भाती; क्योंकि उनका ध्यान फिर दूसरे दिन कारखाने के कार्य में जाने की ओर लगा रहता है। उन्हें अपने बच्चों के साथ बैठने का सुख प्राप्त ही नहीं होता। परिवार का यह रूप 'आर्थिक निर्माण आधार' के अनुसार हुआ है।

तीसरी विचारधारा यह है कि परिवार का प्रमुख ध्येय व्यक्तिगत तृप्ति है। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, परिवार में इसलिए संगठित होता है कि उसके निजी व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास हो सके। इस धारणा के अनुसार व्यक्तित्व का विकास (Development of Individuality) ही परिवार का संगठन-आधार है, और परिवार कुछ व्यक्तियों का समूह मात्र है। इस मत के अनुसार यदि किसी परिवार में व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता, तो वह परिवार त्याज्य अथवा बदलने योग्य है। परिवार का रूप केवल वही होना चाहिए, जो प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से चमका दे। यदि परिवार स्त्री को पुरुष के अथवा सन्तान को माता-पिता के अधीन बनाता है अथवा उनकी स्वतन्त्रता में बाधक होता है, तो वह परिवार दोषपूर्ण है। इस मत के अनुसार परिवार का रूप सदैव व्यक्तिगत विकास की सुगमता के अनुसार बदलता रहा है और भविष्य में भी बदलता रहेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि तीनों विचारधाराओं की पुष्टि परिवार के रूप, कार्य व संगठन की शैली से होती है, परन्तु इन तीनों में से कोई भी विचारधारा परिवार-संगठन व पारिवारिक रूप को पूर्णतया स्पष्ट नहीं कर पाती। वास्तव में तीनों शक्तियाँ हर समय में परिवार-संगठन को प्रेरित करती रही हैं और परिवार के रूप-निर्माण में उनका प्रभाव बहुत प्रबल रहा है। परिवार का वास्तविक रूप इन तीनों धारणाओं से मिश्रित है और परिवार के प्रत्येक स्वरूप में तीनों धारणाओं के चिह्न पाये जाते हैं। जैसे-जैसे सामाजिक उन्नति हुई है, वैसे-वैसे सभ्यता, आर्थिक आवश्यकता और व्यक्तित्व के आधार पर परिवार का रूप बदला है, और भविष्य में भी इन तीनों प्रबल शक्तियों का प्रभाव परिवार के रूप पर पड़ते रहने की सम्भावना है। इन प्रभावशाली शक्तियों के अधीन परिवार के भावी रूप के चिह्न आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। नवीन आर्थिक पद्धति ने पति-पत्नी को आज बहुतांश में स्वतन्त्र कर दिया है। अब पत्नी पति द्वारा लाये हुए मृगया से प्राप्त भोजन की भिखारिणी नहीं। चरवाहों के युग की तरह पुरुष द्वारा पकड़े हुए पशु या जाति द्वारा जीते हुए जंगलों पर आज उसका जीवन-निर्वाह निर्भर नहीं। खेती के समय के मनुष्य के अधीनस्थ खेती के सरल कार्य व गृह-कार्य पर भी उसका जीवन सीमित नहीं है। आज वह स्वतन्त्र होकर पुरुष के बराबर कारखानों में कलों पर काम करती है और अपने जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध स्वयं कर लेती है। पति से भोजन पाने की लालसा में वह पतिदासी बनने की कोई आर्थिक आवश्यकता नहीं समझती। शारीरिक विकास और प्रकृति से द्वन्द्व के लिए उसे जनसमूह के साथ-साथ रहने की भी आवश्यकता अब नहीं है। पुरुष की सम्पत्ति न होकर वह स्वयं पुरुष को अपनी सम्पत्ति समझती है और उसे एक पत्नीव्रत होने को बाध्य करती है। आज मनुष्य बहुपत्नी-स्वामी बनकर नहीं रह सकता, उसे एक पत्नीव्रत होना पड़ता है। स्त्री उसे अपनी एकमात्र सम्पत्ति समझती है और पुरुष को यह अधिकार नहीं कि विवाह-सम्बन्ध के उपरान्त भी वह किसी अन्य स्त्री से प्रेमालाप कर सके। व्यक्तित्व के विकास की चरम सीमा अब समीप आ रही है। स्त्री पुरुष के अधिकार में साधारणतया कोई अन्तर नहीं रह गया है। दोनों स्वतन्त्रता के पुजारी हैं। सन्तान पर भी उनका पूर्ण अधिकार नहीं। यदि यह सम्भावना हो कि माता-पिता के दुराचरण से अथवा दुष्प्रभाव से सन्तान के व्यक्तित्व-विकास में न्यूनता अथवा दोष का भय है, तो राष्ट्र स्वयं बच्चों की देखरेख अपने हाथ में ले लेता है और बच्चे ऐसे परिवारों से हटा लिये जाते हैं। उनकी पढ़ाई-लिखाई, भोजनादि का प्रबन्ध भी राष्ट्र द्वारा किया जाता है। सन्तान का पालन-पोषण, जो परिवार-संगठन का मुख्य ध्येय था, आज बहुत-कुछ अनावश्यक हो चुका है। स्त्रियों के व्यक्तित्व का विकास इतना हुआ है कि आज वे विवाह-विच्छेद, गर्भधारण, सन्तानोत्पत्ति इत्यादि कार्यों में अपने स्वतन्त्र विचार रखती हैं। स्वतन्त्रता में बाधा पड़ने के भय से अथवा गर्भधारण और सन्तानोत्पत्ति के कष्ट के कारण स्त्रियाँ विवाह-बन्धन में पड़ने और मातृत्व का भार उठाने के विरुद्ध हो रही हैं। कहीं-कहीं तो दाम्पत्य-जीवन की स्थापना केवल सुख व इच्छा पर निर्भर है। अल्पकालिक विवाह, क्षणिक प्रेम-सम्बन्ध, स्वेच्छानुकूल विवाह-विच्छेद, पुनर्विवाह आदि इस नवीन सभ्यता के द्योतक हैं। परिवार का पुराना स्वरूप अब उनके ध्यान में भी आना संभव नहीं। भविष्य का परिवार पुरुष का पारिवारिक राज्य न होकर पति-पत्नी की परस्पर इच्छा पर निर्भर एक निवासगृह होगा, जिसमें प्रेमाकर्षित स्त्री व पुरुष का सहवास होगा। यह एक ऐसी मित्रमण्डली होगी, जो मैत्री में शिथिलता आते ही छिन्न-भिन्न होकर फूल की पँखड़ी की भाँति बिखर जायगी। सारांश यह कि परिवार का कार्य व बाहरी रूप तो लगभग पहले ही जैसा होगा, परन्तु इस संस्था के संगठन की प्रेरणा-शक्ति नवीन आधार पर होगी, जिसमें आवश्यकता, निःसहायता, और प्रभुत्व के स्थान पर स्वतन्त्रता, निर्भीकता व प्रेम का साम्राज्य होगा।

खेती के युग के आरंभकाल में मानव परिवार का रूप

जब मनुष्य शिकारी और चरवाहों के जीवन से क्रमशः कृषक-जीवन की ओर अग्रसर हुआ तो उसके ख़ानाबदोश-जैसे रहन-सहन में काफ़ी परिवर्त्तन आ गया। अब वह टिकाऊ रूप से एक ही स्थान में रहने के लिए बाध्य हुआ। खेती के कारण होनेवाले श्रमविभाग और विवाह-प्रणाली के विकास ने मानव परिवार का रूप ही पलट दिया। अब परिवार मातृसत्तावादी से पितृसत्तावादी बन गया और उस पर पुरुष का आधिपत्य क्रमशः बढ़ने लगा।
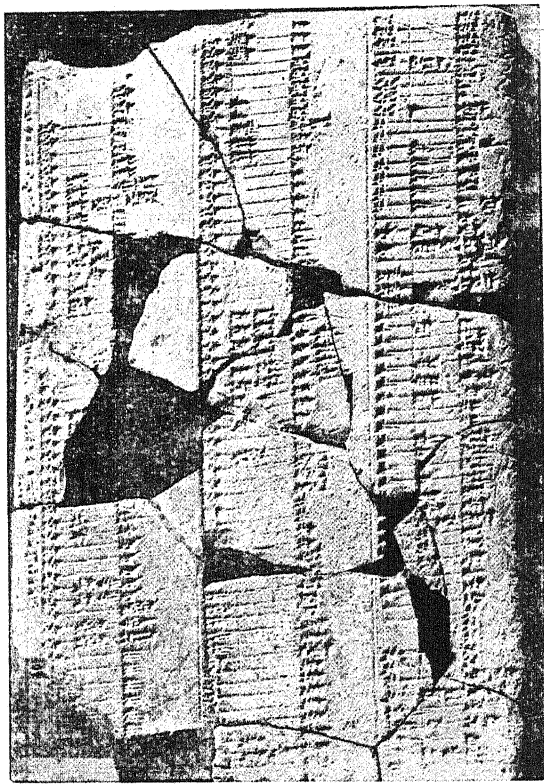
(ऊपर) सुमेरियन लोग इसी तरह की आग में तपाई हुई मिट्टी की तख्तियों पर अपनी विचित्र लिपि के नमूने छोड़ गये हैं। इनमें अंकित अक्षर कीलाकार या क्यूनीफ़ार्म हैं। (नीचे) एक पत्थर की कूँड़ी का चित्र है, जिसमें दरवाज़ों के किवाड़ घूमते थे। इस कूँड़ी पर सुमेरियन लिपि में एक अभिलेख खुदा हुआ है, जिसका बड़ा चित्र दाहिनी ओर दिया गया है।
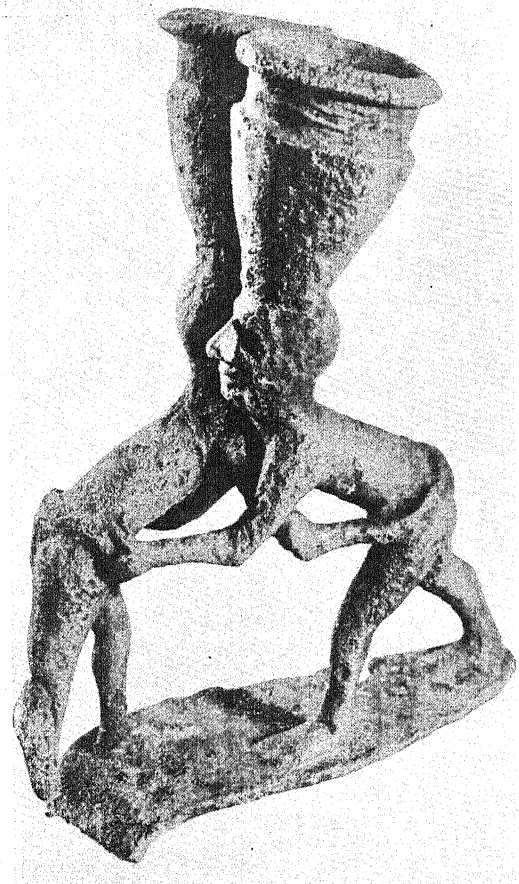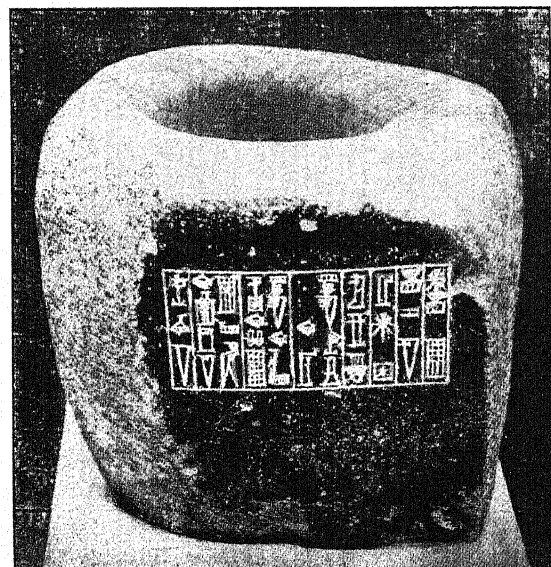
(ऊपर) मसोपोटामिया के ख़फ़ाजे नामक स्थान में अभी हाल में खुदाई करने पर मिली हुई एक अद्भुत मूर्त्ति। इसमें दो सुमेरियन मल्ल आपस में कुश्ती लड़ते हुए दिखाये गये हैं। किन्तु इन दोनों के सिर पर यह लंबे टोकरों या पात्रों जैसी चीज़ें क्या और क्यों हैं, इसका अर्थ लगाना कठिन है। यह मूर्त्ति ताँबे की बनी हुई है। असली मूर्त्ति लगभग इतनी ही बड़ी है, जितनी कि चित्र में दिखाई दे रही है। शिल्प में मल्ल-क्रीड़ा का इससे प्राचीन स्मारक दूसरा नहीं है। मल्लों के सिर पर जो पात्र हैं, संभव है, उन्हें कलाकार ने केवल सजावट के लिए बनाये हों।
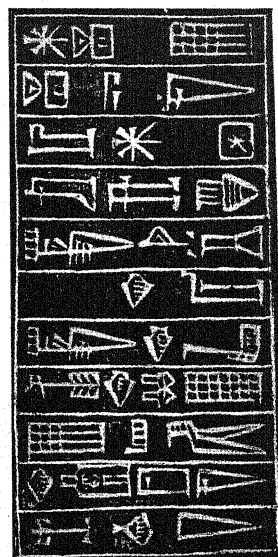
५००० वर्ष पूर्व की सुमेरियन सभ्यता के कुछ स्मारक

सभ्यताओं का उदय—(२) सुमेरियन सभ्यता

आरंभिक सभ्यताओं के प्राचीनतम स्मारक प्रायः नील, सिन्धु, दजला-फ़रात आदि नदियों की तलहटियों में ही मिले हैं, जिससे धारणा होती है कि इन्हीं में से किसी के तट पर सभ्यता की सर्वप्रथम किरणें फूटी होंगी। नील नदी के अंचल में पनपनेवाली सभ्यता का वर्णन हम कर चुके, अब दजला-फ़रात के दोआबे में पायी गयी एक अन्य समकालीन सभ्यता का हाल सुनाने जा रहे हैं। इसके जो कुछ भी स्मारक प्राप्त हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि सुमेरियन लोग किन्हीं-किन्हीं बातों में मिस्रवालों से भी बढ़े-चढ़े थे।

प्राचीन इतिहास के अधिकतर विद्वान् अभी तक मिस्र की सभ्यता और उसकी राजसत्ता को ही सबसे पुरानी मानते हैं, इसीलिए मिस्र के इतिहास का वर्णन पहले किया गया है। किन्तु इधर कुछ वर्षों से इस मत पर सन्देह किया जाने लगा है और सभ्यता का आरम्भ एशिया में ढूँढ़ा जा रहा है। मध्य एशिया, मसोपोटेमिया अर्थात् दजला-फ़रात के दुआबे, सिन्धु नद की तलहटी और पूर्वीय एशिया के द्वीपसमूह में से किसी एक जगह पर सभ्यता के आरम्भ का अनुमान किया जाता है। इन मतों में पहले तीन मत ही मुख्य हैं। मनु का और प्राचीन भारतवालों का मत था, जिसे अब भी कुछ विद्वान् सत्य मानते हैं, कि सभ्यता का आरम्भ उत्तरी भारत में ही हुआ और यहाँ से ही वह सारे संसार में फैल गई। आधुनिक खोजें भी इस मत का उत्तरोत्तर समर्थन कर रही हैं, किन्तु अभी अकाट्य प्रमाण प्राप्त न होने के कारण यह सर्व-स्वीकृत नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का विचार है कि सभ्यता का आरम्भ मसोपोटेमिया में हुआ, जिसका मुख्य कारण यह है कि वहाँ पूर्व और पश्चिम के मेल में अधिक सुविधा थी। वहाँ की खोजें भी इस मत को बहुत कुछ पुष्ट करती हैं। फिर भी अधिक झुकाव इसी ओर है कि सभ्यता का आरम्भ मध्य एशिया में हुआ। मध्य एशिया में पहले जल की कमी न थी, जैसी कि बर्फ़ हटने के बाद पैदा हो गई। आज से क़रीब सात या आठ हज़ार वर्ष पहले इस प्रदेश में गेहूँ, बाजरा और जौ पैदा किया जाता था, जानवर पाले जाते थे और मिट्टी के अच्छे बरतन बनाये जाते थे। उस सभ्यता का अभी बहुत ज्ञान नहीं हुआ है। यह अनुमान किया जाता है कि पूर्व और पश्चिम का सम्मेलन यहाँ सबसे पहले हुआ। जब यहाँ जल की कमी होने लगी और रेगिस्तान बढ़ने लगा, तब यहाँ से लोग इधर-उधर हटने लगे। उन्हीं के साथ अथवा उनके प्रभाव से सभ्यता चारों ओर फैल गई। यहाँ से एक शाखा तो चीन और मंचूरिया चली गई, जहाँ से सभ्यता की लहरें
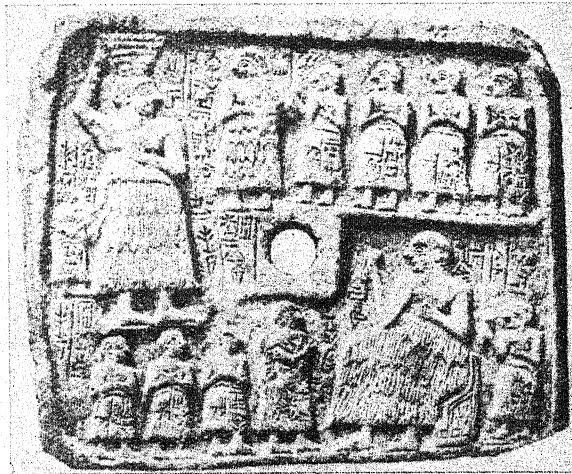
५००० वर्ष पूर्व की सुमेरियन सभ्यता का एक स्मारक
इसमें लगश नगर का एक शासक 'उर-निना' दो भिन्न-भिन्न अवसरों पर अपने चार पुत्रों और एक पुत्री से भेंट करते हुए दिखाया गया है।

लगश के तेजस्वी सम्राट् 'गुडिया' की एक मूर्ति

सत्रालियन डमरूमध्य की राह से उत्तरी अमरीका तक पहुँच गई। दूसरी शाखा भारतवर्ष को चली आई। तीसरी शाखा पश्चिम की ओर बढ़ी और फ़ारस, मसोपोटेमिया, मिस्र, इटली और स्पेन तक पहुँच गई। जो कुछ हो, यह निश्चय रूप से कहना कि सभ्यता का आरम्भ अमुक प्रदेश में ही सबसे पहले हुआ, अभी तक संभव नहीं है।

दजला और फ़रात नदियों के दुआबा और तलहटियों में प्राचीनतम सभ्यता ने बहुत उन्नति की। यहाँ पर कई पुराने नगरों और राज्यों की निशानियाँ मिलती हैं। इनमें किश, अग़ाद, लगश, निप्पर, उर, अस्सुर, बेबिलान आदि मुख्य नगर थे। इस दुआबे के उत्तर और पश्चिम में पहाड़ियाँ, दक्षिण में फ़ारस की खाड़ी और पश्चिम में अरब है। इन दोनों नदियों के मुहाने के आस-पास की भूमि दुआबे के अन्य भागों से अधिक उपजाऊ है। यहीं पर सुमेरिया राज्य था। यहीं की सभ्यता को 'सुमेरियन सभ्यता' कहते हैं।

अभी तक इसका ठीक पता नहीं चला कि सुमेरियन कौन थे। इनका क़द छोटा, नाक ऊँची और नुकीली, माथा दबा हुआ और आँखें नीचे की ओर झुकी हुई थीं। इनके सिर मुँडे रहते थे। इनमें कुछ तो दाढ़ी रखाते और कुछ मुँडाते थे। इनकी पोशाक ऊनी थी। साधारण लोग सिर्फ़ तहमत बाँधे रहते थे; कमर से ऊपर उनका बदन नंगा रहता था। किन्तु अमीर लोग गले तक पोशाक पहना करते थे। वे सिर पर टोपी और पैरों में कसी हुई चड्डी पहनते थे। औरतें नरम चमड़े की जूती पहनती थीं। यह तो निश्चित जान पड़ता है कि सुमेरियन लोग सेमेटिक वर्ग के नहीं थे। कुछ लोग इनका संबंध मध्य एशिया की मंगोल-जाति से मानते हैं, कुछ इन्हें आर्य या द्राविड़ी समझते हैं। द्राविड़ लोग किसी समय स्पेन, मध्य अफ़्रीका और भारत के पूर्वीय भाग तक फैले हुए थे।

५००० वर्ष पूर्व की नक़्क़ाशी

राजपुरुषों के चित्रों से सुशोभित यह तावीज़नुमा चीज़ 'उर' में मिली है!

कहा जाता है कि ईसा से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व मसोपोटेमिया में वे लोग आये, जो इतिहास में 'सुमेरियन' नाम से प्रसिद्ध हैं। सुमेरिया में क़रीब पाँच हज़ार वर्ष पूर्व के मिट्टी की ईंटों पर अङ्कित किये हुए मार्के के लेख मिलते हैं, जिनके लेखक संभवतः वहाँ के पुरोहित होंगे। इनमें तथा इनके बाद की ईंटों के लेखों से सुमेरिया ही नहीं, मसोपोटेमिया एवं आस-पास के प्रदेशों और राज्यों के प्राचीन इतिहास, उनके क़ानूनों और संस्थाओं का पता चलता है। सभ्यता का इससे पुराना अङ्कित प्रमाण कहीं नहीं पाया जाता। इन लेखों के अनुसार सुमेरियन राज्य की स्थापना चार लाख बत्तीस हज़ार वर्ष पहले हुई थी। यह तो उनकी निरी कपोल-कल्पना-सी जान पड़ती है। अभी तक जो पुरानी चीज़ें मिली हैं, वे साढ़े सात हज़ार वर्ष से पुरानी नहीं मानी जातीं। तो भी इनकी ऐतिहासिक वंशावली पाँच हज़ार वर्ष से सिलसिलेवार मिलती है। किन्तु इनमें नामों के अलावा घटनाओं का उल्लेख नहीं है।

पुरातत्ववेत्ता सुमेरिया के इतिहास को दो भागों में विभक्त करते हैं—एक तो वह जब वहाँ पर स्वतंत्र नगर थे, जिनमें "राजपुरोहित" (Patesi) राज्य करते थे; दूसरा वह जब कि स्वतंत्र नगरों का दमन होकर वहाँ बड़े राज्य या साम्राज्य की स्थापना हो गई थी।

नगर-राज्यकाल में सबसे

उर के राजा 'डुङ्गी' की एक प्रतिमा

एक सुमेरियन मूर्त्ति
यह अभी हाल में खफ़ाजे नामक स्थान में पाई गई है। इस मूर्त्ति में आँखें सीपी और लेपिस लेजुली की बनी हैं।

खाये और कई बार स्वतंत्रता खोई; किन्तु अन्त में वह फिर बलशाली हो गया और छः सौ वर्ष तक आधिपत्य जमाये रहा। उल्लेखनीय बात यह है कि इस वंश की स्थापिका एक स्त्री 'अज़गबाऊ' थी, जो पहले शराब का रोज़गार करती थी। महारानी की हैसियत से उसने अच्छा यश प्राप्त किया। अपनी योग्यता के कारण वह अपने पुत्र और पौत्र की राजनियन्त्री रही। उसके समय में किश ने साहित्य, क़ानून, कला, व्यापार में अच्छी उन्नति की। सेमेटिक किशवालों पर सुमेरियन सभ्यता और धर्म की ऐसी छाप लग गयी थी कि वे अपना व्यक्तित्व तक खो बैठे।

लगश नाम के एक और नगर ने भी अच्छी उन्नति की। इसका सबसे पुराना राजा शायद 'उर-निना' था (३१०० ई० पू०)। इसने आसपास ऐसा अपना आतङ्क जमाया कि बाद को लोग उसकी मूर्ति की पूजा करने लगे। इसके वंश के राज्यकाल में धर्माधिकारियों की एक नई श्रेणी पैदा हो गई। इस वंश में एक प्रख्यात राजा 'उरुकगिन' हो गया है। वह अपने को

पुराना वृत्तान्त 'किश' नगर या नगर-राज्य का है। इसके बाद एरेच, उर, अक्शक, लगश आदि नगरों का भी पता चला है। यह प्रतीत होता है कि मसोपटेमिया में सुमेरियन लोग दक्षिण में थे और उनसे ऊपर सेमिटिक लोगों की प्रधानता थी। इन नगरों में आपस में अनबन और मित्रता भी हो जाती थी, जिससे कभी एक दूसरे पर अपना अधिकार जमा लेता अथवा स्वतंत्र हो जाता था। किश के 'मेसिलिम' नामक तीसरे राज-वंश के समय (३६२८-३४८८ ई०पू०) की ऐतिहासिक सामग्री इतनी मिली है कि हम उससे एक प्रकार का रेखाचित्र खींच सकते हैं। इस वंश का चौथा राजा अपने को संसार का अधिपति लिखता था। किश ने कई भाग्य के चक्कर
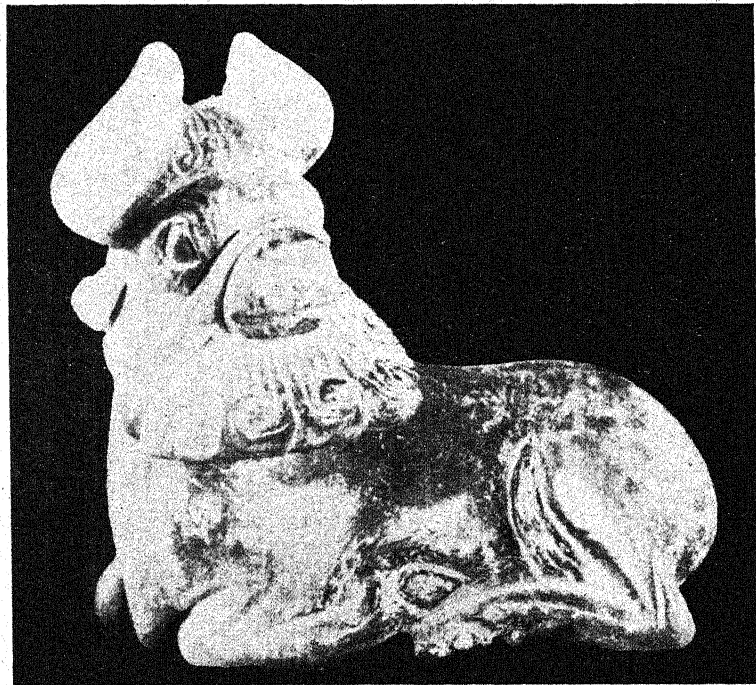
सुमेरियन मूर्त्ति-निर्माण कला का एक और नमूना
यह एक गाय की मूर्त्ति है, जो खफ़ाजे नामक स्थान में पाई गई है।

'लगश और सुमेर का राजा' कहता था। उसने अनेक मन्दिर, इमारतें और एक नहर भी बनवाई। उसका दावा था कि उसने अपनी प्रजा को स्वतन्त्र कर दिया था। उसके प्रबन्धकाल में धर्माधिकारी अथवा धनिक लोग ग़रीब-से-ग़रीब विधवा अथवा अनाथ बालक पर भी अत्याचार नहीं कर सकते थे। साधारण जनता को धर्म, धन आदि के बलवान् अधिकारियों के त्रास और अनुचित हस्तक्षेप से बचाने का यह सबसे पहला प्रयत्न समझा जाता है। लगश का पतन उम्मा नगर के शोषक आक्रमण से हुआ। उम्मा के विजेता 'लुगल ज़गिसी' ने लगभग २५ वर्ष तक राज्य किया, परन्तु उसको राज्यच्युत कर 'सारगन' ने लगश पर आधिपत्य जमा लिया।

सारगन (२७७२-२७१७ ई० पू०) सेमेटिक वंश का था। किम्वदन्ती है कि इसकी मा नीची श्रेणी की और पिता अज्ञात था। मा ने उसे नरकुलों के ऊपर रखकर नदी में बहा दिया था। एक सिंचाई-वाले ने उसको निकालकर उसका पलन-पोषण किया और उसे माली बनाया। यही माली आगे चलकर बड़ा विजयी हुआ। उसने पचास नगरों को परास्त करके अपना राज्य बढ़ाया। इसकी राजधानी 'अक्केड़' में थी। सारगन ने भूमध्य सागर तक अपना राज्य बढ़ा लिया और वह अपने को "संसार का सम्राट्" कहने लगा। कहा जाता है कि संसार का सबसे पहला साम्राज्य यही था। यदि यह सत्य है तो सारगन ही संसार का पहला सम्राट् कहा जाने का अधिकारी है। उसने अपने साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त कर दिया और प्रत्येक में किसी "राज-प्रासाद के पुत्र" को शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। ऐसा ऐश्वर्य रहते हुए भी उसका बुढ़ापा चिन्ता और कष्ट से बीता। साम्राज्य में विद्रोह की आग चारों ओर फैल गई। उसने दमन करने का कठोर प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु सफल होने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। यद्यपि सारगन के उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य को एकदम नष्ट नहीं होने दिया, किन्तु उसकी क्षीणता दिनोंदिन बढ़ती गई। उसके पुत्र "नरम-सिन" ने अनेक विद्रोहियों का दमन किया, और कई मन्दिरों का निर्माण कराया। किन्तु उत्तर की ओर से सुमेर और अक्केड़ को अर्द्धसभ्य जाति वाले 'गुतियम' लोग दबाते ही चले गये और अन्त में उन्हें नष्ट कर दिया। यद्यपि इन विजेताओं में 'गुडिया' नामक एक तेजस्वी राजा हो गया है, जिसने अन्याय और बुराइयों को दूर करने के लिए सद्प्रयत्न कर अपना नाम इतिहास में अमर कर दिया, तथापि लगश के साम्राज्य के पतन को कोई भी न रोक सका।

सुमेरियन कला का एक नमूना
सुवर्ण और 'लेपिस लेजुली' नामक क़ीमती पत्थर का बनाया हुआ यह बैल का सिर 'उर' की खुदाई में पाया गया था।

लगश के साम्राज्य के बाद 'उर' नामक नगर का उत्थान हुआ, जिसने सुमेर और अक्केड़ की पतनोन्मुख ख्याति की रक्षा करने का अच्छा प्रयत्न किया। 'उर' के राजवंश में 'उर-एङ्गर' का नाम पहले आता है। उसके माता पिता का ठीक पता न चलने के कारण उसका जन्म माता पृथ्वी और पिता चन्द्रदेव से माना जाता था। कहा जाता है, उसने और उसके पुत्र डुङ्गी ने पश्चिमी एशिया को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया। अपने साम्राज्य को उन्होंने चार भागों में विभक्त कर दिया था—सुमेर एवं अक्केड़, एलाम, सुबर्तु और अमरु। पिता और पुत्र ने (२४५६ ई० पू०) सारे सुमेरिया के लिए क़ानून बनाये। इनके प्रयत्नों के बल पर आगे चलकर बेबिलान के सेमेटिक सम्राट् हम्मुरब्बी ने अपना

सुप्रसिद्ध विधान बनाया, जिसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा। सुमेरियन धर्म के पुनरुत्थान और संस्थापन में भी इन्होंने बड़ा परिश्रम किया। इनके समय में देवालयों का महत्त्व और उनकी आर्थिक सम्पत्ति बहुत बढ़ गई। चारों ओर से मन्दिरों के देवताओं की पूजा के लिए अन्न, फल, पशु एवं अन्य प्रकार की इतनी अधिक सामग्री आने लगी कि उनके लेने और रखने के लिए एक अलग इमारत और कारिन्दों की आवश्यकता पड़ गई। उर के राजे यों तो अनेक देवताओं को मानते थे, किन्तु सूर्यदेव के प्रति उनकी विशेष श्रद्धा थी। अपनी न्यायप्रियता और धार्मिक एवं राजनीतिक सेवाओं के कारण उर-एङ्गर और डुङ्गी भी देवताओं की श्रेणी में शरीक कर लिये गये, उनके मन्दिर बन गये और उनकी मूर्तियों की पूजा होने लगी। इस वंश का अंतिम राजा 'इबी-सिन' था। यद्यपि इसने पचीस वर्ष राज्य किया, तथापि इसके समय में साम्राज्य शीघ्रतापूर्वक छिन्न-भिन्न हो गया। एलामवालों ने आक्रमण करके उसे क़ैद कर लिया। उसके पतन के साथ ही सुमेरिया की स्वतन्त्रता और सुमेरियन इतिहास का भी अवसान हो गया। यह स्मरण रखना चाहिए कि सुमेरियावाले शान्ति-उपासक थे, वे केवल विजय के भूखे न थे और न वे रण के प्रेम ही के कारण युद्ध करते थे। वे उपजाऊ भूमि पर अपना अधिकार जमा कर कृषि और सभ्यता की उन्नति करना ही अपना मुख्य आदर्श समझते थे। कहा जाता है कि उनके आधिपत्य और उन्नति का मुख्य कारण उनका सैनिक बल न था, वरन् उनकी सभ्यता और न्यायप्रियता थी।

सुमेरियन सभ्यता

सुमेरियन लोगों में कृषि ६००० वर्ष पहले भी प्रचलित थी। उस ज़माने में भी वे नदियों से नालियों द्वारा पानी काटकर ज़मीन को उपजाऊ बना लेते थे और बैलों से हल चलाकर कुछ अनाज और तरकारियाँ पैदा कर लेते थे। ये लोग गाय, भेड़, बकरी और सुअर पालते थे। घोड़ों का इनको पता न था। साधारण तौर पर तो वे पत्थर, हाथी-दाँत और हड्डियों ही से अपने औज़ार बनाते थे, किन्तु ताँबा, टीन, काँसा और लोहा भी कभी-कभी काम में लाया जाता था। सोना और चाँदी के ज़ेवर भी इनमें प्रचलित थे। इनको सिक्कों का ज्ञान न था; लेकिन सोना-चाँदी का लेन-देन वे तौल से करते थे। विनिमय (अदल-बदल) द्वारा ये स्थल और जल-मार्ग से आस-पास के नगरों से ही नहीं, बल्कि मिस्र देश और भारतवर्ष से भी व्यापार करते थे। व्यापार-संबंधी लिखा-पढ़ी का ढंग भी इनको मालूम था। नाप-तौल और वर्ष-मास, तथा ऋतुओं का भी इन्हें ज्ञान था। इनमें धनिक और दरिद्रों के बीच की एक जन-श्रेणी पैदा हो गई थी, जिनमें विद्वान्, चिकित्सक और पुरोहित आदि थे। इसको यदि हम आधुनिक मध्य श्रेणी का प्राचीनतम रूप मान लें, तो अनुचित न होगा। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि संभवतः नगरों का सबसे प्रथम संस्थापन या निर्माण मसोपटेमिया में ही हुआ था।

५००० वर्ष पूर्व की कला
यह सुंदर नक़्क़ाशीदार कटार सोने और 'लेपिस लेज़ुली' की बनी हुई है। यह भी उर के ध्वंसावशेषों में पाई गई थी।

सुमेरियन लोगों को ईंटें और खपरैले तथा मिट्टी के बरतन आदि बनाना और पकाना मालूम था। उन्होंने ईंटों की एक ऊँची मीनार भी बनाई थी। किन्तु रहने के लिए साधारणतः वे लोग नरकुल (reeds) के मकान बनाते थे। मज़बूती के लिए टट्टर की दीवारों को वे भूसा और मिट्टी के सने हुए कड़े पलस्तर से तोप देते थे। ऐसे मकानों के अवशेष अब तक पाये जाते हैं। किन्तु वे लोग मकानों के दरवाज़े लकड़ी ही के बनाते थे, जिनकी चूलें पत्थर की होती थीं।

सुमेरिया में अनेक नगर थे। प्रत्येक नगर में एक नगराधीश था, जिसे हम वहाँ का राजा कह सकते हैं। इन राजों ने अपने-अपने नगर की स्वतंत्रता को जहाँ तक और जब तक इनसे बन पड़ा, क़ायम रखा। इसीलिए वे प्रायः आपस में युद्ध करते रहते थे। स्वतंत्र नगरों और उनके

पारस्परिक संघर्ष का काल ३०५० ई० पू० तक माना जाता है। किन्तु व्यापार की उन्नति के कारण यह परिस्थिति स्थिर न रह सकी। ईसा के २८०० वर्ष पूर्व यहाँ साम्राज्य की स्थापना हो गई। स्वतंत्र नगरों के बदले वहाँ एक नयी राजकीय सत्ता का आरम्भ हो गया, जिससे वे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक एकता के सूत्र में बँध गये और उनका कार्यक्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो गया।

सुमेरिया के लोग पृथ्वी देवी, तथा सूर्य, चन्द्र, आकाश, व समुद्र के देवताओं को मानते थे। किन्तु उनका सबसे बड़ा देवता "वायु" था। वायु देवता का सबसे प्रसिद्ध मन्दिर निप्पर में था। यह मन्दिर पक्की ईंटों का बना था, क्योंकि बेबिलोनिया में पत्थर नहीं मिलता था। उसके पास पक्की ईंटों की एक ऊँची मीनार बनी थी, जो पिरामिड की-सी थी। मन्दिर के चारों ओर छोटी-छोटी इमारतें और आँगन बने थे। मन्दिर और उसके साथ की इमारतों को चारों ओर से चहारदीवारी घेरे हुए थी। भक्त लोग यहाँ पानी के घड़े और बकरे लाकर चढ़ाते थे। वे कर्मकाण्ड की विधि, मंत्र-तंत्र, आदि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते और भूत-प्रेतादि को भगाते थे। वे मृत्यु के बाद भी जीवन की कल्पना करते थे, किन्तु वह कल्पना अन्धकारमय थी। पाप-पुण्य का भी उनको ज्ञान था। वे मुरदों को दफ़ना देते थे, किन्तु न तो वे उन्हें सन्दूक़ों आदि में रखते थे और न उन पर समाधि-स्तूप आदि ही बनाते थे। मन्दिरों में पुजारियों का प्रमुत्व था, जो "पपेसी" कहलाते थे। यही लोग मान और विद्या, मंत्र, पूजा-विधि, चिकित्सा आदि के भाण्डार माने जाते थे। ये लोग धनसम्पन्न भी थे। इनका प्रधान स्वयं राजा था। वस्तुतः राजा ही एक तरह से प्रमुख पुरोहित माना जाता था।

किश के महल की दीवारों की शिल्पकारी

इस तरह के और भी कई खुदाई के नमूने सुमेरियन ध्वंसावशेषों से मिले हैं, जिनसे ५००० वर्ष पूर्व के इन अद्भुत लोगों की प्रतिभा का परिचय मिलता है। इस चित्र में दीवार पर खुदे हुए बकरे-बकरी के चित्र हैं।

मन्दिरों में स्त्रियाँ भी रखी जाती थीं—कुछ तो साधारण काम-काज करने के लिए और कुछ देवताओं अथवा उनके प्रतिनिधियों के भोग-विलास के लिए। देवताओं के निमित्त कन्यादान करना अहोभाग्य और सराहनीय कार्य माना जाता था। सुमेरियावालों का धर्म और साहित्य के क्षेत्र में बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। बेबिलोनिया तथा असीरियावालों पर तो उनका पूरा-पूरा प्रभाव था ही, ईसाई और इस्लाम धर्म भी उनके प्रभाव से नहीं बचे। बहुत संभव है कि फ़ारस और भारत पर भी उनका प्रभाव पड़ा हो।

सुमेरिया में विवाह की प्रथा प्रचलित थी। पत्नी अपने पिता से पाये हुए दहेज पर अपना अधिकार रखती थी। बच्चों पर पति और पत्नी के अधिकार समान थे। पत्नी अलग व्यवसाय करती थी। पति के मरने पर वह उसकी सम्पत्ति का प्रबन्ध भी करती थी। यदि पत्नी पर व्यभिचार का भी दोष होता तो भी उसे तलाक़ नहीं दिया जा सकता था। हाँ, पति दूसरा विवाह कर सकता था।

सारांश यह है कि सुमेरियन लोगों ने ही पहले पहल साम्राज्य की रचना की। उन्होंने ही पहलेपहल नालियों व नहरों से सिंचाई करने की तरकीब निकाली; सोने-चाँदी से चीज़ों की क़ीमत निश्चित करने का आविष्कार किया; लिखा-पढ़ी करके व्यापार करने की विधि चलाई; लेखन-कला की रचना की; पुस्तकालयों और पाठशालाओं की स्थापना की; गद्य-पद्य लिखना आरंभ किया; तथा ज़ेवर और सौन्दर्य-वर्द्धक मसाले बनाये। इन्हीं ने पहले मन्दिर व महलों का बनाना शुरू किया। गुम्बद, मेहराब, खम्भे वग़ैरह बनाकर स्थापत्य-कला की उन्नति की। इन गुणों के होते हुए भी उन्होंने एकसत्तावाद, ग़ुलामी, सैनिक अत्याचार और पुरोहित-सत्ता की नींव ही नहीं डाली, किन्तु उन्हें काफ़ी मज़बूत बना दिया। यद्यपि उनके इतिहास का अभी तक पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, किन्तु यह निश्चित है कि उनकी सभ्यता का दौर-दौरा तीन-चार हज़ार वर्ष तक क़ायम रहा।
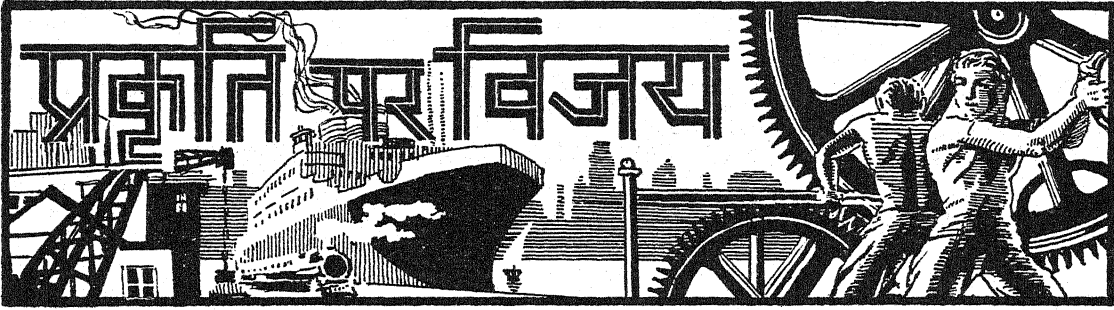
भाप के इंजिन

मनुष्य की आर्थिक प्रगति के इतिहास में भाप की शक्ति के आविष्कार का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की 'औद्योगिक क्रांति' का सूत्रपात वाष्प-यंत्रों के आविष्कार ही से हुआ। भाप की ही बदौलत रेल और जहाज़ व कल-कारख़ानों की उस अद्भुत नई दुनिया का निर्माण हुआ, जिसने मनुष्य के विकास की धारा को एक नवीन दिशा की ओर मोड़ दिया है।

वाष्प-यंत्रों का इतिहास निस्सन्देह बहुत पुराना है। मिस्र और यूनान के प्राचीन निवासी वाष्प-सम्बन्धी अनेक प्रयोगों से परिचित थे। सिकन्दरिया के प्रसिद्ध विद्वान् हीरो ने एक ऐसा यंत्र बनाया था, जिसमें एक दीपक की आँच से पानी भाप में परिवर्तित होता था। यह भाप एक बर्त्तन में, जिसमें अंगूरी शराब रक्खी रहती थी, प्रवेश करती थी। इस भाप के धक्के से यह अंगूरी शराब उस बर्त्तन के बाहर एक पतली टोंटी के रास्ते फ़व्वारे के रूप में निकलकर मंदिर की मूर्त्ति के ऊपर गिरती थी। देहात के जन-साधारण दर्शक इस करामात को देखकर सोचते थे कि अवश्य ही इसके पीछे कोई दैवी शक्ति काम कर रही है!

हीरो ने भाप के ज़ोर से चलनेवाला एक और यंत्र बनाया था। एक गोल पीपा धुरी के आधार पर खड़ा किया गया था। इसके आमने-सामने के दो सूराखों से जिस समय भाप बाहर निकलती, तो उसके धक्के से यह पीपा उस धुरी पर नाचने लगता था!

किन्तु ये नमूने निरे खिलौने ही रह गये। इन नमूनों के आधार पर नित्य के काम के लिए कोई मशीन या इंजिन न बनाया जा सका। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ भी ऐसे यंत्रों के आविष्कार के लिए कुछ अधिक अनुकूल न थीं। अतः हीरो के इन प्रयोगों के उपरान्त लगभग २००० वर्ष तक वाष्प-यंत्रों के इतिहास के पन्ने कोरे ही पड़े रह गये। जान पड़ता है, हमारा ज्ञान-केतु पुच्छल तारों की तरह है, जो एकाएक प्रकट होकर लुप्त हो जाते हैं और बहुत दिनों बाद फिर वापस लौटते हैं।

इस अवधि में इक्के-दुक्के वैज्ञानिकों ने वाष्प-सम्बन्धी तरह-तरह के प्रयोग किये; किन्तु भाप के इंजिन के आविष्कार का श्रेय सन् १६५५ में एक अंग्रेज़ लार्ड वोर्सेस्टर को ही प्राप्त हो सका। अपनी एक पुस्तक "आविष्कार की शताब्दी" में लार्ड वोर्सेस्टर ने अपने इस आविष्कार का इन शब्दों में परिचय दिया है—"आग की मदद से पानी ऊपर चढ़ाने के लिए एक अद्भुत और शक्तिशाली साधन"। उसका इंजिन वास्तव में एक पम्पिङ्ग इंजिन ही था। किन्तु यह इंजिन आजकल के इंजिन से मूलतः भिन्न था। इस इंजिन में भाप की प्रसरणशीलता (फैलने का गुण) और उसकी शक्ति का तनिक भी लाभ नहीं उठाया गया था, बल्कि आकाश की हवा के दबाव की शक्ति का प्रयोग इस इंजिन में किया जाता था। पीपे-जैसे दो बर्तनों में ब्वायलर (Boiler) से भाप जाती थी। पीपे के ऊपर ठण्ढा पानी डालकर भाप को ठण्ढा करके पानी बना लेते थे। ऐसा करने से पीपे के भीतर शून्य या वैकुअम (Vacuum) उत्पन्न हो जाता था। पीपे से एक नल कुएँ या खान के पानी तक जाता था। पीपे के अन्दर शून्य या वैकुअम उत्पन्न होते ही आकाश की हवा के दबाव से खान का पानी पीपे में स्वयं चढ़ जाता था। अब वाल्व (valve) के द्वारा नीचे के पाइप का रास्ता बन्द करके पीपे में, जिसमें पानी मौजूद रहता था, फिर भाप भेजते थे। भाप के ज़ोर से पीपे का पानी दूसरे रास्ते से बाहर निकल जाता था।

इसके बाद लगभग १०० वर्ष तक भाप के इंजिन

केप्टेन सेवरी ने लार्ड वोर्सेस्टर के इंजिन में बहुत-कुछ सुधार किये। किन्तु उसे भी यह बात नहीं मालूम थी कि पानी भाप बनने पर १६०० गुना ज़्यादा जगह घेरता है। अतः भाप की प्रसरणशीलता का लाभ सेवरी भी न उठा सका। किन्तु सेवरी का इंजिन इतना शक्तिशाली न साबित हो सका कि खानों की पानीवाली कठिनाई को वह पूर्णतया दूर कर सकता। सेवरी का इंजिन ३४ फ़ीट से अधिक नीचे का पानी नहीं खींच सकता था। हाँ, ऊँचे दबाव की भाप का प्रयोग करके क़रीब ३०० फ़ीट की ऊँचाई तक पानी को वह ऊपर तक अवश्य चढ़ा लेता था। अतः १७१२ में न्यूकामेन ने सेवरी के इंजिन में कई एक मौलिक सुधार किये। उसने पहले-पहल पिस्टन (Piston) का प्रयोग किया। पिस्टन की मदद से उसका इंजिन पानी को बहुत ऊँचे तक फेंक सकता था। इसमें एक भारी शहतीर का एक सिरा ज़ंजीरों द्वारा पम्प के डण्डे से बँधा था और दूसरा सिरा एक पिस्टन से बँधा था, जो एक गोल सिलिण्डर में नीचे-ऊपर आता-जाता था। इसी सिलिण्डर

न्यूकामेन के पंपिङ्ग इंजिन का एक नमूना (mobel)

यह मॉडल या नमूना किंग्ज़ कॉलेज, लंदन के अजायबघर में रक्खा हुआ है। 'पिस्टन' का सर्वप्रथम प्रयोग इसी इंजिन में किया गया था, जिससे आगे इंजिन के विकास में बड़ी सहायता मिली।

क़रीब क़रीब इसी सिद्धान्त पर काम करते रहे। उन दिनों इङ्गलैण्ड में खानों से पानी उलीचने की महत्त्वपूर्ण समस्या सामने थी। खान के मालिक लोग हैरान थे कि खान के पानी को कम दाम में और तेज़ी के साथ कैसे उलीचें! किसी-किसी खान से पानी उलीचने के लिए ५०० घोड़ों द्वारा रहट चलाया जाता था, और कितनी खानें तो पानी भर जाने के कारण बन्द भी हो गई थीं। अतः लार्ड वोर्सेस्टर के इंजिन की हर खान में माँगें हुईं, और इस इंजिन के दोष दूर करके उसे और भी शक्तिशाली बनाने के लिए तत्कालीन वैज्ञानिकों ने जी तोड़ कर परिश्रम करना शुरू किया।

जेम्स वॉट और मेथ्यू बोल्टन के संयुक्त प्रयत्न द्वारा आविष्कृत इंजिन

भाप के इंजिन के विकास में योग देनेवाले आरंभिक आविष्कारकर्त्ता इसी खोज में लगे थे कि कोई ऐसा शक्तिशाली साधन उन्हें मिल जाय जिससे खानों से पानी बाहर खींचने में मदद मिले। इस पंपिङ्ग इंजिन का जन्म इसी आवश्यकता-पूर्त्ति के निमित्त हुआ। किन्तु इससे आगे के असली भाप के इंजिन के निर्माण का रास्ता खुल गया।

[फ़ोटोः—सायंस म्यूज़ियम, लंदन।]

में भाप प्रवेश करती थी। इस सिलिण्डर का ब्वायलर से एक वाल्व द्वारा सम्बन्ध था। वाल्व खोलने पर ब्वायलर में से भाप इस सिलिण्डर में प्रवेश करती थी। फिर ऊपर से इस सिलिण्डर के अन्दर पानी की पतली धार प्रवेश कराई जाती थी। पानी के स्पर्श से भाप ठण्डी होकर तरल बन जाती थी, अतः इस सिलिण्डर के अन्दर आंशिक शून्य या वैकुअम पैदा हो जाता था। वैकुअम के पैदा होते ही पिस्टन आकाश की हवा के दबाव के कारण नीचे चला आता था, क्योंकि सिलिण्डर के ऊपरी भाग में कोई ढक्कन न था। साथ ही दूसरी ओर का सिरा ऊपर को उठता और पम्प को चलाता था। इस तरह इंजिन पानी उलीचता था। अब वाल्व फिर खोला जाता, और सिलिण्डर में भाप फिर प्रवेश करती तथा पिस्टन ऊपर को उठ जाता था। इसी क्रिया की बार-बार पुनरावृत्ति होती थी। सिलिण्डर के भीतर का पानी एक छेद द्वारा बाहर निकाल दिया जाता था।

कहा जाता है कि एक खिलाड़ी लड़के को इस इंजिन के वाल्व और पानी की टोंटी को खोलने और बन्द करने का काम दिया गया था। लड़का काम करने से जी चुराता था। अतः उसने कुछ रस्सियों और डण्डों को वाल्व और टोंटी से लगाकर शहतीर में इस तरकीब से बाँधा कि शहतीर के ऊपर-नीचे होने के साथ ही ये वाल्व और टोंटी भी ठीक अवसर पर खुलने और बन्द होने लगे। इस तरह उस खिलाड़ी लड़के की सूझ ने इंजिन को पूर्णतया स्वयंक्रिय बना दिया।
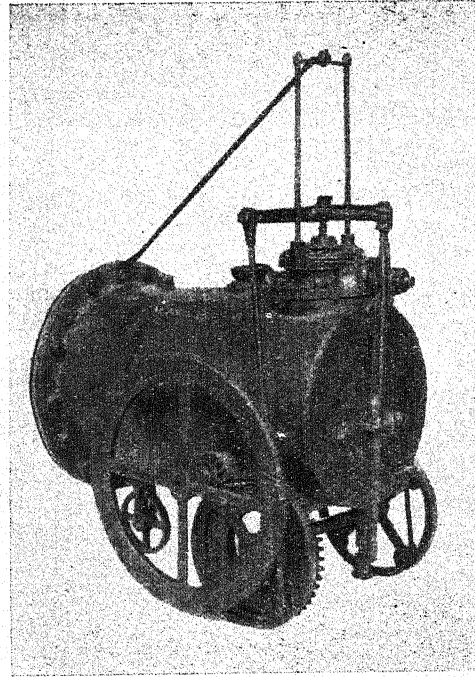
सड़क पर चलनेवाला सबसे पहला इंजिन

वैट और मर्डक द्वारा आविष्कृत भाप की शक्ति का उपयोग करके रिचर्ड ट्रेविथिक ने आधुनिक भाप के इंजिनों के इस आदिम पूर्वज को तैयार किया था। [फ़ोटो—'सायंस म्यूज़ियम', लंदन]

बालक जैम्स वैट द्वारा भाप की शक्ति का प्रथम प्रयोग

भाप के जोर से चाय की देगची का ढक्कन उछलते देखकर बचपन ही में वैट के मन में जो उत्कंठा जगी, उसी का विकास उसके द्वारा भाप के इंजिन के आविष्कार में हुआ।

न्यूकामेन के इंजिन में ईंधन का खर्चा अधिक था और बहुत काफ़ी भाप इसमें नष्ट होती थी। फिर भी लगभग १५० वर्ष तक यही इंजिन खानों में पानी उलीचने का काम करता रहा। न्यूकामेन के इंजिन में समय-समय पर अनेक लोगों ने सुधार किये, किन्तु उसमें मूलतः परिवर्तन करके उसे आधुनिक ढंग के वाष्प-इंजिन का रूप देने का श्रेय जैम्स वैट को ही प्राप्त हो सका। जैम्स वैट बाल्यावस्था में स्वास्थ्य की ख़राबी
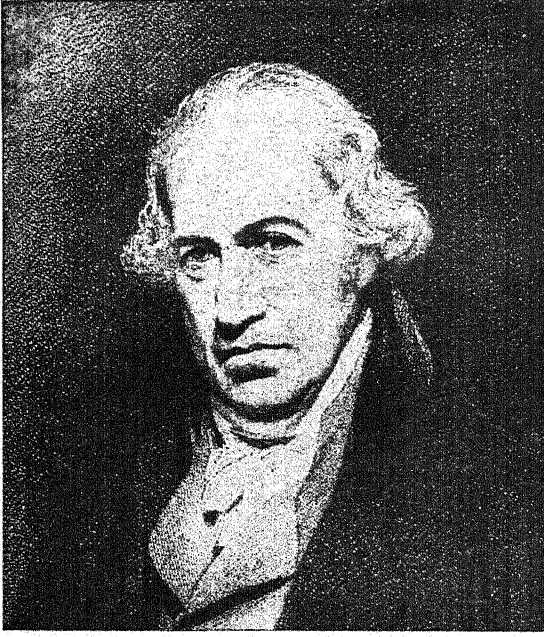
भाप के इंजिन का विधाता जेम्स वैट
(१७३६—१८१६)

के कारण स्कूल में भर्ती नहीं किया जा सका था। उसने घर ही पर शिक्षा पाई और बड़ा होने पर गणित-सम्बन्धी औज़ारों और यंत्रों की मरम्मत करने का काम शुरू किया। अपने काम में वह इतना निपुण था कि ग्लासगो यूनिवर्सिटी की प्रयोगशाला के औज़ारों की मरम्मत करने के लिए मिस्त्री बना दिया गया। एक दिन उक्त विश्व-विद्यालय के विज्ञान के प्रोफ़ेसर ने उसे एक बिगड़ा हुआ न्यूकामेन-इंजिन मरम्मत करने के लिए दिया। जेम्स वैट ने उस न्यूकामेन-इंजिन का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। उसने उसकी अनेक कमियों पर ध्यान दिया और अब उसे धुन सवार हुई कि न्यूकामेन-इंजिन के दोषों को दूर करें।

उसने देखा कि सिलिण्डर में भाप को ठण्डा करने के लिए जब पानी प्रवेश कराते हैं, तो ठण्डे पानी के स्पर्श से सिलिण्डर भी ठण्डा हो जाता है। अतः पिस्टन को ऊपर भेजने के लिए जब भाप को सिलिण्डर में फिर प्रवेश कराया जाता है, तो भाप की बहुत-सी गर्मी अनायास सिलिण्डर को फिर से गर्म करने में खर्च हो जाती है। फल-स्वरूप पिस्टन को ऊपर भेजते समय बहुत-सी भाप ठण्ढी होकर पानी बन जाती है। इसलिए वैकुअम पैदा करने के लिए और अधिक भाप सिलिण्डर में प्रवेश कराना पड़ता था। इंजिन की इस फ़िज़ूलखर्ची को कम करने के लिए उसने सिलिण्डर से अलग एक दूसरे जैकेट में भाप को ठण्ढा करने का प्रबन्ध किया, और सिलिण्डर को गर्म बनाए रखने के लिए उसके चारों ओर नमदा, ऊन और घास लपेट दिया।

भाप के लिए अलग कन्डेन्सर बनाकर जेम्स वैट इंजिन के खर्च में दस गुना कमी करने में समर्थ हुआ। फिर उसने सोचा कि सिलिण्डर के ऊपर यदि ढक्कन लगा दिया जाय, तो अवश्य ही बाहर की हवा का दबाव तो पिस्टन को डुला न सकेगा, किन्तु तब भाप के द्वारा ही पिस्टन को हम ऊपर से नीचे भी ला सकते हैं। वैट की इस सूझ ने वाष्प-इंजिन को एक सच्चा वाष्प-यंत्र बना दिया। इसके पहले पानी खींचने का काम भाप से नहीं लिया जाता था। इंजिन के असली काम में केवल हवा का दबाव ही मदद देता था। अब वैट पहली बार बाहर की हवा की मदद लिये बिना केवल भाप के ज़ोर से ही इंजिन द्वारा पानी उलीचने में समर्थ हुआ। इस तरह उसने वाष्प-इंजिन का कायापलट कर

जार्ज स्टीफ़ेन्सन (१७८१—१८४८)
जिसने रेल के इंजिन का आविष्कार किया।

दिया। इतना कर लेने पर भी वैट ने वाष्प-सम्बन्धी आविष्कारों की लगन न छोड़ी। कभी वह भाप का तापक्रम बढ़ाता, तो कभी उसका दबाव ज़्यादा करता। प्रयोगों के सिलसिले में उसने देखा कि सिलिण्डर के भीतर भाप के धक्के से पिस्टन में एक गति उत्पन्न होती है। जिस तरह पानी की तेज़ धार के धक्के से काफ़ी शक्ति उत्पन्न होती है, उसी तरह भाप के धक्के के ज़ोर से यह पिस्टन आगे बढ़ता है। एकाएक उसने सोचा कि भाप बनने पर यदि पानी को मौक़ा मिले, तो वह १६०० गुना ज़्यादा आयतन में बढ़ सकता है। बढ़ते समय इसके फैलने में अधिक शक्ति भी पैदा होती है। तो क्या भाप के फैलने पर जो ज़ोर उत्पन्न होता है, उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता?

सड़क पर चलनेवाला पहला इंजिन

जिसमें भाप बनाने के लिए नलीदार ब्वायलर का प्रयोग किया गया था। इसे १७६१ में 'रीड' नामक व्यक्ति ने बनाया था।

इस नई सूझ के आज़माने के लिए उसने प्रयोग भी किया। पिस्टन के अन्दर वाल्व के रास्ते उसने भाप को प्रवेश कराया और जब पिस्टन अपना एक चौथाई रास्ता तै कर चुका था तब उसने वाल्व को बन्द कर दिया। अब पिस्टन के अन्दर की भाप फैलनी शुरू हुई। फैलने की क्रिया में उसने पिस्टन को ढकेला। इस तरह पिस्टन सिलिण्डर के एक से दूसरे सिरे पर पहुँच गया। इस युक्ति से वैट ने थोड़ी ही भाप में काम चलाना शुरू किया, और फलस्वरूप कोयले की लागत में भारी बचत होने लगी।

सौ वर्ष पूर्व के रेल के इंजिन का रूप

यह इंगलैंड की स्टाकटन और डार्लिंगटन रेलवे द्वारा सन् १८२५ में काम में लाये जानेवाले एक इंजिन का चित्र है। आज के भीमकाय रेल-इंजिन का यह पुरखा कैसा खिलौने-जैसा प्रतीत होता है!

इसके उपरान्त वैट ने अपने इंजिन को दोहरी हरकत करनेवाला (double-acting) बनाया। अब तक सिलिण्डर के अन्दर भाप एक ही रास्ते से प्रवेश करती थी, अतः भाप का पूरा ज़ोर पिस्टन को एक ओर चलाने में ही लगता था। पिस्टन जब लौटता था, तब उसमें पहली हरकत के इतना ज़ोर नहीं रहता था। किन्तु अब सिलिण्डर के दूसरे सिरे पर भी भाप के प्रवेश करने के लिए वाल्व बनाया गया। इस तरह लौटती बार भी पिस्टन पर भाप का पूरा ज़ोर पड़ने लगा। पिस्टन को आते और जाते दोनों समय समान शक्ति मिलने लगी। अतः इंजिन की कार्यक्षमता पहले से दूनी हो गई। आजकल के सभी इंजिनों में ऐसे डबल ऐक्टिङ्ग पिस्टन ही काम में आते हैं।

अब भद्दे और तरह-तरह की कमियोंवाले इंजिन को हर तरह से परिष्कृत करके, वैट पिस्टन के आगे-पीछेवाली हरकत को वृत्ताकार हरकत में परिणत करने के लिए तरह-तरह की तरकीबें सोचने लगा। आख़िरकार उसने 'क्रैन्क' (एक प्रकार का पुर्जा) और 'शैफ़्ट' (एक और डंडानुमा पुर्जा) की मदद से पिस्टन की सीधी हरकत से वृत्ताकार

हरकत पैदा करने की भी तरकीब निकाल ली। वैट ही सर्वप्रथम व्यक्ति था, जिसने भाप के बल से पहिया घुमाया। अब तक भाप के इंजिन केवल पम्प को नीचे-ऊपर चलाया करते थे, किन्तु 'क्रैन्क' और 'शैफ़्ट' की मदद से वाष्प इंजिन से खराद की मशीन, लकड़ी काटने के लिए वृत्ताकार आरे आदि हर तरह की मशीनों को चलाने का काम लिया जाने लगा।

तदुपरान्त वैट ने एक बहुत ही छोटा, किन्तु उपयोगी सुधार कर इस इंजिन को पूर्ण बना दिया। इंजिन की रफ़्तार एकसाँ बनाये रखने के लिए उसने 'गवर्नर' बनाया, जो भाप के वाल्व के छेद को छोटा-बड़ा करता था। गवर्नर में दो लट्टू लगे रहते हैं। ये लट्टू एक कीली के दोनों बाजू पर लटकते रहते हैं। उस कीली का सम्बन्ध इंजिन के शैफ़्ट (धुरी) से रहता है। ज्यों-ज्यों शैफ़्ट तेज़ घूमता है, ये लट्टू भी तेज़ नाचते हैं। तेज़ी के साथ नाचने के कारण ये लट्टू कीली से दूर हट जाते हैं। कई लीवरों की मदद से लट्टुओं का संबंध वाल्व से बना रहता है। लट्टू जब तेज़ी के साथ घूमने के कारण एक-दूसरे से दूर हट जाते हैं, तो वाल्व के भीतर का सूराख भी छोटा पड़ जाता है, जिससे सिलिण्डर में कम भाप प्रवेश करती है। नतीजा यह होता है कि इंजिन की चाल धीमी पड़ जाती है। उसी तरह जब इंजिन धीमा पड़ने लगता है, तो वाल्व के सूराख बड़े हो जाते हैं, और पिस्टन में ज़्यादा भाप आने लगती है, जिससे रफ़्तार बढ़कर फिर पूर्ववत् हो जाती है।

वैट के संग उसका एक सहायक भी था, जिसका नाम विलियम मर्डक था। मर्डक कुछ दिन वैट के साथ रहने के बाद कार्नवाल की खान में पानी उलीचने की मशीनों की देखभाल करने के लिए इञ्जीनियर नियुक्त हो गया। दिन भर के कठिन परिश्रम के उपरान्त भी वह शाम को इंजिन के नमूने बनाया करता था। वह इस फ़िक्र में था कि किसी तरह ऐसा इंजिन बना ले, जो सड़क पर दौड़ सके। उसने तीन पहियों का एक इंजिन बनाया, जिसमें आगे का पहिया छोटा था। इसमें ब्वायलर का पानी एक स्पिरिट लैम्प द्वारा गर्म किया जाता था। मर्डक सबसे छिपाकर अकेले में अपने हाते के अन्दर इंजिन-संबंधी प्रयोग करता था। एक दिन शाम को मुहल्ले की सड़क को सूना पाकर वह अपने माडल को सड़क पर ले गया। संयोगवश गिर्जे का एक पादरी घूमकर उसी सड़क से लौट रहा था। पादरी ने देखा कि धुएँ की बदबू से भरा हुआ एक विशालकाय दानव, जिसके मुँह से आग की लपटें निकलती थीं, सड़क पर उसकी ओर बढ़ता आ रहा है! वह एकदम घबरा उठा, और बेतहाशा एक ओर भागा। इसके कुछ ही दिन उपरान्त उसने गिर्जे में उपदेश देते हुए कहा कि मैंने शैतान को आग उगलते हुए देखा है! इस घटना से मर्डक इतना घबराया कि फिर उसने अपने नमूने को बहुत दिनों तक हाते से बाहर नहीं निकाला। वह हाते के भीतर ही गुप्त रूप से प्रयोग करता रहा।

भाप की शक्ति का जादू

वैट की चाय की देगची के ढक्कन को ढकेलनेवाली भाप आज भीमकाय जहाज़ों को चलाती है।

उसने अपने नमूने में सिलिण्डर के दोनों सूराखों को, जिनमें से होकर भाप सिलिण्डर में
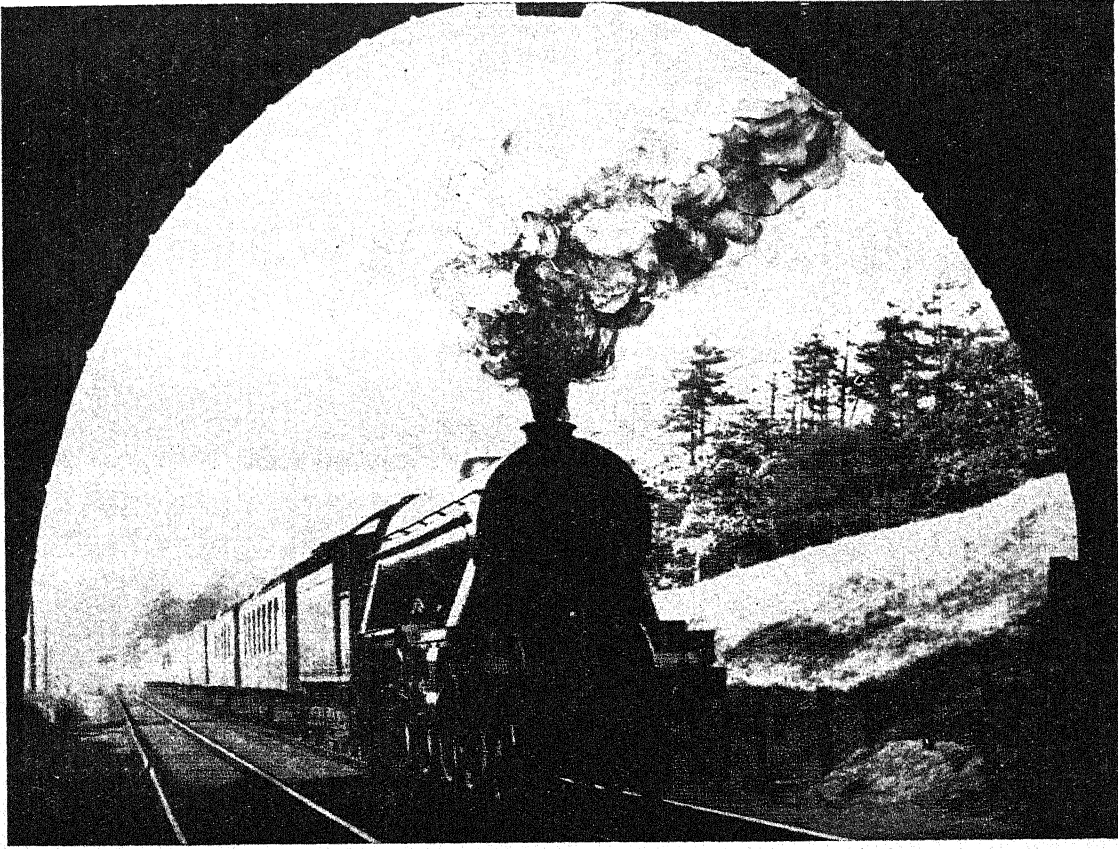
भाप की शक्ति का प्रतीक—लोहे की पटरियों पर दौड़नेवाला आधुनिक युग का एक लौह दानव

यदि स्वयं जैम्स वैट या जार्ज स्टीफेन्सन से भाप के इंजिन के आरंभिक दिनों में यह कहा जाता कि उनके आविष्कार के सौ साल के ही भीतर पृथ्वी पर लगभग ८ लाख मील लंबी लोहे की पटरियाँ बिछ जायँगी और उन पर १ मील प्रति मिनट की गति से भीमकाय इंजिनों से खींचे जानेवाली रेलगाड़ियाँ हज़ारों मन माल और सैकड़ों सवारियाँ लेकर पहाड़ों और नदियों को लाँघते हुए रात-दिन दौड़ती रहेंगी तो शायद ही उन्हें इस बात पर विश्वास होता। पर आज दिन हमारे लिए ये रोज़मर्रे की मामूली बातें हैं।

प्रवेश करती थी, बारी-बारी से बन्द करने के लिए एक विशेष प्रकार का वाल्व बनाया, जो शैफ़्ट से लोहे के एक डण्डे द्वारा संबंधित था। शैफ़्ट के घूमने पर यह नई वाल्ववाला डण्डा आगे-पीछे खिसकता था, और सिलिण्डर के दोनों वाल्व उपर्युक्त समय पर बारी-बारी से खुलते थे।

इन्हीं दिनों कागनार नामक एक फ़्रांसीसी ने भी भाप का एक इंजिन बनाया था। उसका इंजिन बहुत छोटा था और वह कच्ची सड़क पर भी चलता था। एक बार पेरिस की सड़क पर उसका इंजिन उलट गया। तब से फ़्रांसीसी लोग भाप की गर्मी को खतरनाक समझने लगे और किसी ने भी उस इंजिन का सुधार करने का प्रयत्न नहीं किया।

मर्डक के बाद उसके शिष्य ट्रेविथिक ने मर्डक के नमूने को सर्वांगपूर्ण और निर्दोष बनाने का जिम्मा लिया। उसने पहली बार भाप के इंजिन को रेल की पटरियों पर दौड़ाया। इसके पहले रेल की पटरियाँ ज़मीन पर बिछीं तो अवश्य थीं, किन्तु उन पर चलनेवाली गाड़ियों को घोड़े खींचा करते थे। १८०३ में उसका इंजिन कई गाड़ियों को रेल की पटरी पर खींचने के लिए काम में लाया गया। लोहे की पटरियों पर दौड़नेवाला यह सर्वप्रथम इंजिन था।

परन्तु ट्रेविथिक की योजना कार्यान्वित न हो सकी। भाप के इंजिन की रेलगाड़ी तैयार करने का वास्तविक श्रेय जार्ज स्टीफ़ेन्सन नामी एक अंग्रेज़ नौजवान को मिला। बचपन में वह कभी भेड़ें चराता, तो कभी फेरी लगाकर सौदा बेचता। आखिर वह भी उस खान में नौकर हो गया, जिसमें उसका
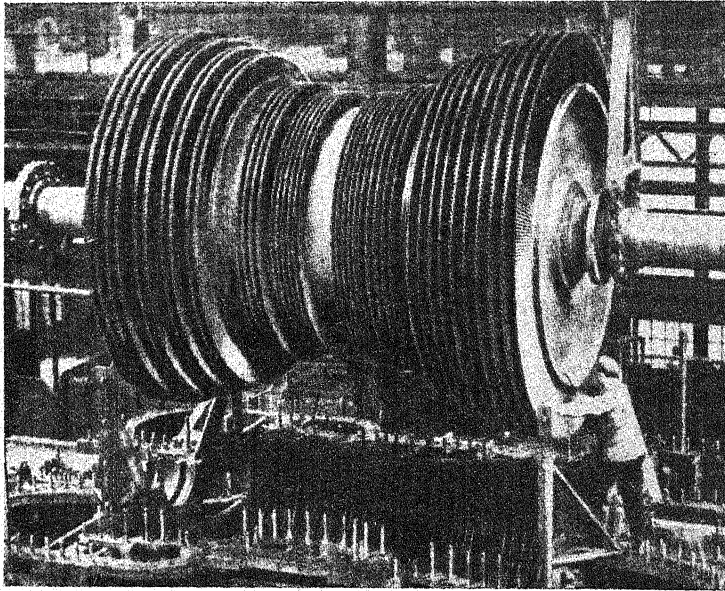
भाप से चलनेवाले टरबाइन (Turbine) **का चक्र (खुला हुआ)**
आजकल अधिकांश बड़े जहाजों को चलाने के लिए एक विशेष प्रकार के चक्रवत् यंत्र टरबाइन का प्रयोग किया जाता है। विशेष विवरण के लिए पृष्ठ ३४२ का मैटर देखिए।

पिता काम करता था। यहाँ इसने छोटे-छोटे इंजिनों को कोयला ढोते हुए देखा। वह घण्टों इन इंजिनों को देखा करता और घर पर मिट्टी से इन्हीं इंजिनों के माडल बनाया करता था। कुछ ही दिनों में वह इंजिन के कलपुर्ज़ों से पूर्णतया परिचित हो गया। अब वह इनमें मरम्मत करने का काम करने लगा। लोग उसे 'इंजिन का डाक्टर' कहने लगे। इंजिन में कैसी भी ख़राबी क्यों न आ गई हो, वह उसे दुरुस्त कर देता था। फिर भी उस समय तक स्टीफ़ेन्सन एक अक्षर भी नहीं पढ़ पाता था। उसने न्यूकामेन, मर्डक, वैट आदि का नाम भी नहीं सुना था। उसने इंजिन के सम्बन्ध में जानकारी स्वयं अपनी आँखों और कानों की सहायता से ही प्राप्त की थी। बड़ा होने पर उसने रात्रि-पाठशाला में जाकर पढ़ना सीखा। उसका छोटा-सा लड़का जब स्कूल से घर लौटता, तो स्टीफ़ेन्सन अपनी किताब लेकर उसके पास पहुँच जाता और उसके साथ अपना पिछला सबक़ दुहराता था।

कुछ पढ़-लिख लेने के बाद स्टीफ़ेन्सन ने और भी मनोयोगपूर्वक इंजिनों का अध्ययन किया। इन दिनों बढ़िया क़िस्म के इंजिनों की माँग भी बढ़ रही थी, क्योंकि खान के मालिकों के सामने नई समस्याएँ आ उपस्थित हुई थीं। इस समय इङ्गलैंड में नेपोलियन का डर छाया हुआ था, जिससे सभी अच्छे-अच्छे घोड़े फ़ौज के काम के लिए ख़रीद लिये गये थे। खान में कोयला-गाड़ी खींचने के लिए बढ़िया घोड़े मिलते ही न थे। युद्ध की सम्भावना के कारण चारा भी महँगा हो गया था। अतः खान के मालिकों ने सोचा कि यदि कोयला-गाड़ी खींचने के लिए वे घोड़े के स्थान पर भाप के इंजिनों का प्रयोग कर सकें, तो उनकी सारी मुश्किलें दूर हो जायँ। अतः वाष्प-यंत्र सम्बन्धी अनुसन्धानों के लिए खान के मालिकों की ओर से ख़ूब प्रोत्साहन मिलना शुरू हुआ।

स्टीफ़ेन्सन ने वर्षों के अथक परिश्रम के उपरान्त अंत में बड़े आकार का एक इंजिन तैयार किया। उसने अपने इंजिन का ब्वायलर बहुत लम्बा बनाया। इस इंजिन की चिमनी भी बहुत ऊँची थी, जिससे भाप बहुत जल्द बनती थी और इंजिन में शक्ति भी काफ़ी पैदा होती थी। स्टीफ़ेन्सन का यह इंजिन ६० मन का बोझा ५ मील प्रति घण्टा की रफ़्तार से खींच लेता था। यह सन् १८१८ की बात है।

किन्तु ये इंजिन और उसके डिब्बे चलते समय बहुत ज़्यादा हिलते-डुलते थे। अतः केवल कोयला, पत्थर, आटा आदि ऐसी चीज़ें, जो टूट-फूट नहीं सकती थीं, इन रेलगाड़ियों में लादी जाती थीं। किन्तु स्टीफ़ेन्सन तो सवारी-गाड़ी को खींचनेवाला इंजिन तैयार करना चाहता था। आख़िर उसका यह स्वप्न भी २७ सितम्बर, १८२५, को पूरा हुआ। संसार की यह सर्वप्रथम पैसेञ्जर ट्रेन थी। इसमें ६ मालगाड़ी के डिब्बे थे, जिनमें आटा और कोयला लदा था; एक डिब्बा कम्पनी के डायरेक्टरों के बैठने के लिए था, और ३१ डिब्बे पैसेञ्जरों के बैठने के लिए जुड़े हुए थे। इस गाड़ी को १२ मील प्रति घण्टा के वेग से भागते देखकर दर्शकों ने दाँतों तले उँगलियाँ दबा लीं। इस छोटी-सी गाड़ी पर लगभग ६०० आदमी चिपके हुए थे!

उन दिनों साधारण जनता फक-फक धुँआ उगलनेवाले इस लोहे के नवीन दानव से बहुत डरती थी। इसलिए इंजिन के आगे-आगे लाल झण्डा लिये हुए एक आदमी असली घोड़े

पर चढ़कर चलता था! पहले रेलगाड़ी सिर्फ़ दिन के समय चलती थी, रात को ठहर जाती थी! बाद में जब रात को भी गाड़ी चलने लगी, तो रास्ता दिखाने के लिए इंजिन के सामने एक बड़ी अँगीठी रक्खी जाने लगी। इस अँगीठी में लकड़ी जलाकर रोशनी करते थे, ताकि रास्ता दिखाई दे। इंजिन के सामने अक्सर जानवर आ जाया करते थे। उन्हें ड्राइवर बन्दूक में मटर की छर्रियाँ भरकर मारता था, जिससे वे रेल का रास्ता छोड़कर भाग जायँ। इंजिन में कोयले के स्थान पर पहले लकड़ी ही जलाते थे। रास्ते में जब ईंधन चुक जाता, तो मुसाफ़िर उतरकर पास के पेड़ों से लकड़ी तोड़ लाते, और यदि राह चलते पानी ख़त्म हो जाता तो ब्वायलर के लिए पानी भी ढूँढ़ लाते थे!

आधुनिक जहाज़ों का इंजिन जिसमें भाप का प्रयोग किया जाता है

इस इंजिन की शक्ति ३००० अश्वबल (Horse-power) के बराबर है। अधिकांश जहाजों में यही इंजिन लगाया जाता है। इसको चलाने के लिए भाप अलग ब्वायलर में तैयार होती है।

सिगनल का भी अजीब तमाशा था। स्टेशन पर एक ऊँचा-सा मचान बना रहता था। जिस समय ट्रेन आने का वक़्त होता, स्टेशन मास्टर मचान पर चढ़ जाता था। गाड़ी का धुवाँ देखते ही वह उतर आता और घण्टी बजाकर मुसाफ़िरों को आगाह कर देता था।

किन्तु बहुत थोड़े समय में ही शक्तिशाली रेलवे इंजिन बनने लगे। अब तेज़ रोशनी की सर्चलाइट की मदद से ड्राइवर मीलों दूर अपना रास्ता देख सकता है। समूची रेलगाड़ियों की बनावट व चाल-ढाल में भी आश्चर्यजनक और महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुआ है। अमेरिका और इङ्गलैण्ड में तेज़ रेलगाड़ियाँ एक सिरे से दूसरे सिरे तक एकदम सपाट बनाई गई हैं। इनके बनाने में लोहे की जगह अल्यूमिनियम की चादर काम में लाई गई है। चिमनी, गुम्बज़ आदि झंझटों से ये गाड़ियाँ सर्वथा मुक्त हैं। इनके इंजिन भाप से नहीं चलते, वरन् इन्हें चलाने के लिए एक बहुत ही सस्ते क़िस्म के मिट्टी के तेल का प्रयोग करते हैं। ये इंजिन आठ-नौ सौ अश्व-बल रखते हैं; अतः १२० मील प्रति घण्टा की गति से यह रेलगाड़ी सफ़र करती है।

जिन स्थानों में सस्ते में बिजली प्राप्त की जा सकती है, अब वहाँ विद्युत्-शक्ति से चलनेवाले इंजिन रेलगाड़ी खींचने लगे हैं। परन्तु रेलगाड़ियों के संचालन में तेल या बिजली की शक्ति का प्रयोग अभी बहुत कम मात्रा में हो रहा है। अधिकांश रेलगाड़ियाँ अब भी भाप के ही बल से दौड़ती हैं।

रेलवे-यात्रा में समय की बचत के लिए भी अनेक आविष्कार किये गये हैं। एक फ्रेञ्चमैन ने स्वयंक्रिय कप्लिंग

की ईजाद की है। इसकी मदद से गाड़ियों के डब्बे स्वयं धक्का लगने पर एक दूसरे से जुड़ जाया करेंगे। इंजिनों में कोयला लादने में भी काफ़ी समय नष्ट होता था, अब इस काम के लिए भी बिजली की मशीनें बन गई हैं।

जैम्स वैट द्वारा प्रथम बाष्प-इंजिन के आविष्कार के सौ-सवा सौ साल के भीतर ही भाप की शक्ति के प्रयोग का आश्चर्यजनक विकास हुआ है। यदि सन् १८१० की दुनिया के किसी व्यक्ति से—स्वयं जैम्स वैट ही से—यह कहा जाता कि सौ साल ही के बाद पृथ्वी पर लगभग आठ लाख मील लंबी लोहे की पटरियों की सड़कें बिछ जायँगी, जिन पर मीलों लंबे पुलों और सुरंगों द्वारा बड़ी-बड़ी नदियों को लाँघती और पर्वतमालाओं को फोड़ती हुई, हज़ारों रेलगाड़ियाँ, रात-दिन दौड़ती रहेंगी, तो शायद ही वह इस बात पर विश्वास करता! शायद ही वह इस बात की कल्पना कर सकता कि इसी भाप की शक्ति के बल पर एक छोटे नगर की पूरी आबादी—तीन-चार हज़ार मुसाफ़िरों—को भीमकाय जहाज़ हफ़्ते भर ही में अटलांटिक महासागर को लाँघकर योरप से अमेरिका पहुँचा दिया करेंगे, और सरपट दौड़नेवाली रेलगाड़ियाँ पेरिस से चलकर योरप व एशिया की विशाल छाती को चीरती हुई पेकिङ्ग तक की दौड़ लगाया करेंगी।

किन्तु मनुष्य की अद्भुत वैज्ञानिक बुद्धि ने आज यह सब और इससे भी अधिक अचरज-भरी बातें सार्थक कर दिखाई हैं। ये आज हमारे रोज़मर्रे की साधारण बातें हो गई हैं, जिन्हें देखकर हममें से किसी को भी आश्चर्य नहीं होता। आज तो मनुष्य भाप से हटकर तेल से उत्पन्न की हुई गैस व बिजली की शक्ति की ओर बढ़ रहा है, और स्वयं बाष्प-यंत्रों में भी अब आश्चर्यजनक फेरफार किये जाने लगे हैं। इसके प्रमुख उदाहरण आज के रेल और जहाज़ों के इंजिन हैं। इन इंजिनों के केवल आकार-प्रकार या शक्ति ही में वृद्धि नहीं हुई है, बल्कि सौ वर्ष के अनुभव और दिन पर दिन पैदा होनेवाली नई-नई आवश्यकताओं ने उनकी भीतरी रचना और सिद्धान्त में भी क्रान्तिकारी उलटफेर कर दिया है। निरंतर सुधार और परिवर्तन के होने पर भी लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक भाप के इंजिन उसी सिद्धान्त पर काम करते रहे, जिसका आविष्कार और प्रयोग न्यूकामेन और जैम्स वैट ने किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार भाप अलग ब्वायलर में पैदा करके एक सिलिण्डर में गुज़ारी जाती है, जिसमें वह अपने दबाव के धक्के से एक पिस्टन को आगे ढकेलती है। इस पिस्टन से एक डंडा पहियों की धुरी से जुड़ा रहता है और विशेष प्रकार की यांत्रिक व्यवस्था के अनुसार वह पिस्टन की आगे-पीछे की दोहरी सीधी गति को पहिए की वर्त्तुलाकार गति में परिवर्त्तित कर देता है। आज के हज़ारों भाप के इंजिन इसी सिद्धान्त पर काम करते हैं। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आखिर में (सर) चार्ल्स पार्सन्स नामक एक अंग्रेज़ वैज्ञानिक ने एक नये ही ढंग के बाष्प-इंजिन की रचना की, जिसमें बिलकुल दूसरा ही सिद्धान्त काम में लाया गया था। इस इंजिन का नाम 'टरबाइन इंजिन' पड़ा। 'टरबाइन' (Turbine) एक लैटिन शब्द है और इसका अर्थ है, वह जो अपने ही आस-पास लट्टू की तरह लहरदार चक्कर काटते हुए गतिशील हो। इस इंजिन का सिद्धान्त वास्तव में सिकंदरिया के विद्वान् हीरो द्वारा आविष्कृत भाप के इंजिन के सबसे आदिम रूप से मिलता-जुलता था। इस नये इंजिन का मूल सिद्धान्त पिस्टन और डंडे के घुमाव के उपयोग की झंझट में पड़े बिना भाप की गत्योत्पादक शक्ति को वर्त्तुलाकार गति में परिवर्त्तित करना था। इस संबंध में यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि पानी से भाप बनाने का कोयला या ईंधन के रूप में कुछ शक्ति खर्च होती है। जब भाप पैदा होती है, तो उसमें यह शक्ति जमा रहती है। इस शक्ति की मात्रा भाप के दबाव और ताप की मात्रा पर निर्भर करती है। दबाव और ताप की वृद्धि के अनुपात में इस शक्ति में भी वृद्धि होती है। साधारण भाप के इंजिन में इसका प्रयोग सिलिण्डर के पिस्टन को इधर-उधर घुमाने में किया जाता है। इस क्रिया में इस शक्ति का जितना उपयोग होना चाहिए, उतना नहीं हो पाता और वह भाप का दबाव और ताप घट जाने के कारण व्यर्थ में नष्ट हो जाती है। टरबाइन इंजिन में इसी व्यर्थ के व्यय को बचाने का प्रयत्न किया गया है और यह काम पिस्टन या डंडे के फेर में पड़ने के बजाय सीधे पहिये या चक्र पर ही भाप की प्रतिक्रिया कराकर सिद्ध किया गया है। आज दिन बड़े-बड़े जहाज़ों में इसी नये ढंग के इंजिनों का प्रयोग होता है।

टरबाइन इंजिन की रचना और उसके कार्य करने की विधि के संबंध में विशेष बातें हम आधुनिक युग के जहाज़ों के विकास संबंधी आगे आनेवाले लेख में बतायेंगे। इसी प्रकार रेल के इंजिनों की रचना और कार्य-विधि पर भी रेलगाड़ियों संबंधी आगे आनेवाले लेख में प्रकाश डाला जायगा।

प्राचीन मिस्र की कला—(१)

आज से कुछ ही वर्ष पहले यदि कोई यह घोषणा करता कि प्राचीन मिस्र कला की हर दृष्टि से यूनान की कला के बराबरी की या रोम की कला से कहीं बढ़ चढ़कर है तो निस्संदेह उसको अच्छी फटकार मिलती और कुछ नहीं तो उसकी खिल्ली ज़रूर उड़ाई जाती। किन्तु इसके विपरीत आज उलटे यूनान और रोम की कला को मिस्र की कला की कसौटी पर जाँचा जाता है। प्रागैतिहासिक युग के धुँधले कोहरे से बाहर निकलने पर मिस्र ही में हमें कला के क्षेत्र में मनुष्य के सबसे प्राचीन स्मारक मिलते हैं। इस लेख में प्राचीन मिस्र की कला पर सामान्य रूप से विचार किया गया है, अगले लेख में उसकी विशद आलोचना की जायगी।

मानव सभ्यता का कांस्य अथवा ताम्रयुग (the Bronze Age) अपने पूर्ववर्त्ती प्रस्तर-युग की भाँति सहस्रों वर्ष तक चलता रहा। इस युग में भी मनुष्य का जीवन उतना ही कठोर या अपरिष्कृत एवं शुष्क था, जितना कि प्रस्तर-युग में, किन्तु इसी काल में पृथ्वी पर मनुष्य के अस्तित्व को सुगमतर बनानेवाली जीवन की अनेक सुविधाओं का आविष्कार हुआ। ज्यों-ज्यों एक के बाद दूसरी शताब्दियाँ बीतती गईं, मनुष्य ने मक्का, जौ, बाजरा और सन आदि के उपयोग और उत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त किया और घरेलू कार्यों के लिए पशुओं का पालना सीखा। कुछ और आगे चलकर, धातुओं को शोधने या पृथक् करने की कला का भी अनुसन्धान हुआ। सुवर्ण सम्भवतः सर्वप्रथम धातु थी, जिसका मनुष्य ने अनुसन्धान किया। इसके पश्चात् ताँबे (ताम्र) की बारी आई। कांस्य युग के मनुष्यों को किसी शुभ संयोगवश यह बात मालूम हो गई कि शुद्ध ताँबे के साथ टिन धातु का मिश्रण कर देने से उसमें बहुत मज़बूती आ जाती है। इस मिश्रण के परिणामस्वरूप जो धातु उन्होंने बनाई, उसी की संज्ञा मानव इतिहास के इस काल को दे दी गई है, जिससे यह काल 'कांस्य युग' या 'ताम्रयुग' (the Bronze Age) कहलाता है।

कांस्य युग के मानव की कला के बहुत-से नमूने खोज निकाले गये हैं और इनमें उस काल की नक़्क़ाशीदार तलवारें, कंगन, खंज़र, नक़्क़ाशीदार तावीजनुमा तमग़े (plaques) तथा अन्य कई वस्तुएँ मिली हैं। प्रस्तर-युग के लोगों की भाँति दृश्य पदार्थों के चित्रण की अपेक्षा कांस्य युग के लोगों की प्रवृत्ति आभूषणों
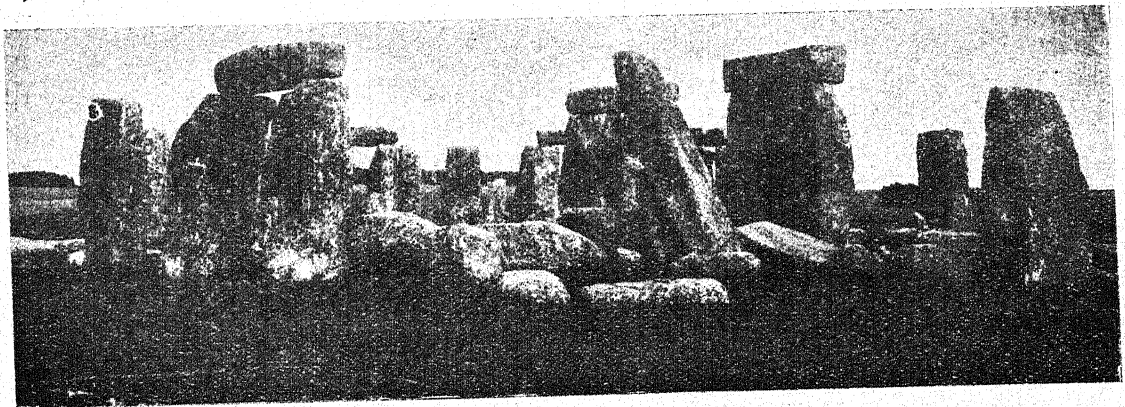
आदिम मनुष्यों के शिलागृहों या समाधियों (Dolmens) के कुछ अवशेष

यह इँगलैंड में पाये गये शिलागृहों का चित्र है इनसे हमें भवन-निर्माण के क्षेत्र में मनुष्य के आरंभिक प्रयास की झलक मिलती है।
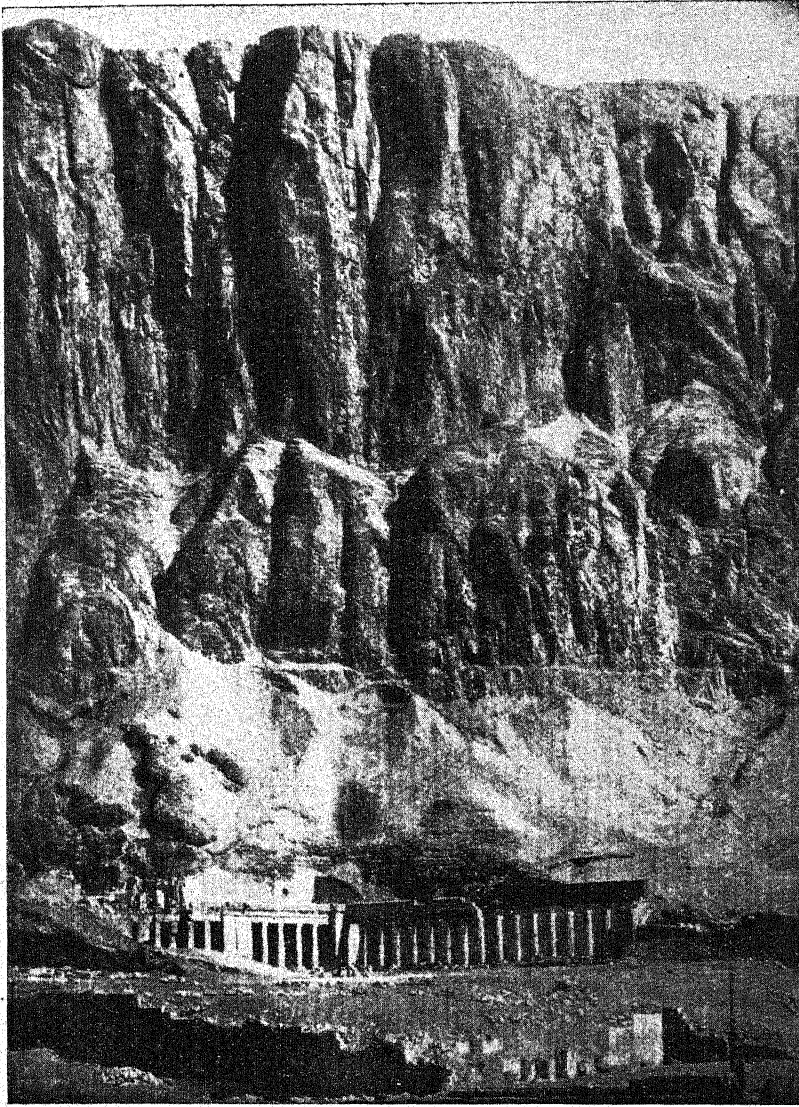
देर-अल-बहरी (Deir-El-Bahari) का मन्दिर और उसके पीछे का कगार

यह मन्दिर आज से क़रीब ३५०० वर्ष पूर्व बनाया गया था। मन्दिर के पीछे चट्टानों के ऊँचे खड़े कगार पर ध्यान दीजिए। मिस्र वालों की इमारतों की रचना-शैली पर इन चट्टानों के आकार और रूप की स्पष्ट छाप है, जिससे प्रतीत होता है कि इन्हीं से उनको अपनी स्थापत्यशैली के निर्माण में मुख्य प्रेरणा मिली होगी।

की सजावट करने की ओर अधिक थी। इसके अतिरिक्त स्थापत्य की ओर भी उनका झुकाव होने के प्रमाण पाये जाते हैं। शिलाखण्डों को एक-दूसरे पर रचकर बनाये हुए आदिम शिलागृहों (Dolmens) (देखिए पृष्ठ ३४३ का चित्र) अथवा पत्थर की समाधियों में, जो आगे चल-कर कई शताब्दियों बाद पुरातन मिस्र की कला में अपने विकास की चरम सीमा को पहुँच गये, इस दिशा में हमें उनकी आरम्भिक आकांक्षाओं के दर्शन होते हैं। इस प्रकार के आरम्भिक शिलागृह या 'डॉलमेन' पुरातत्ववेत्ताओं को ब्रिटैनी के समुद्र-तट से कुछ हटकर स्थित गैवरीनिज़ (Gavr'inis) नामक द्वीप में मिले हैं और इसी तरह के अन्य उदाहरण या नमूने फ़ान्स, डेनमार्क, स्वीडेन, स्पेन और पुर्त्तगाल में भी पाये गये हैं। इन आरम्भिक रचनाओं में जो शिल्प-कारी है, वह कतिपय दुर्लभ उदाहरणों को छोड़कर, प्रायः आयता-कार (geometrical) अर्थात् भूमिति की रेखाओं का अंकन मात्र है; उसमें मनुष्य या पशु के जीवन का चित्रण करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।

प्राचीन मिस्र के इति-हास का वर्णन डा० त्रिपाठी ने 'हिन्दी विश्व-भारती' के पिछले भाग में इतने सराहनीय ढंग से किया है कि इस पुरा-तन देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में यहाँ विशेष कुछ कहना अनावश्यक प्रतीत होता है। किसी भी देश की कला, वहाँ के निवासियों की वेषभूषा और चरित्र-संबंधी विशेषताओं की भाँति, उस देश की प्राकृतिक दशा पर निर्भर है। वह उस देश विशेष की अवस्थाओं के साथ सामञ्जस्य रखने-वाले विचारों और भावनाओं ही का स्पष्टीकरण है। एक

मात्र निकृष्ट कला वही है, जो यांत्रिक (mechanical) बन गई हो, जिसमें वास्तविक भावनाओं और विचारों को व्यक्त करने की प्रेरणा नष्ट हो चली हो और जिसका लक्ष्य या कार्य ऐसी शैलियों और प्रवृत्तियों का अनुकरणमात्र रह गया हो, जो देश विशेष के वातावरण की वास्तविक अवस्थाओं से तनिक भी संबंध न रखती हों।

मिस्र की प्राकृतिक अवस्थाओं की तात्विक विशेषताओं में सर्वप्रथम वहाँ के सूर्य का असह्य प्रचण्ड ताप है। दूसरी विशेषता है वहाँ के बालुकामय मरुप्रदेश की सुदूरव्यापी अनुर्वरता और बीच की सङ्कीर्ण घाटी की सुरम्य हरियाली का पारस्परिक गहरा अन्तर या असंगति; और तीसरी मुख्य विशेषता है एक ही लंबे सिलसिले में समतल मैदान में फैले हुए वहाँ के अनाज के खेतों, बंजर पठारों और चूने या खड़िया पत्थर के स्तरों की दूर तक फैली हुई शृंखलाएँ, जिनके दोनों ओर सैकड़ों फ़ीट ऊँची चट्टानें समान रूप में लगातार खड़ी चली गई हैं।

अबु सिम्बेल के महान् देवालय के सभामण्डप का एक दृश्य

छत की चित्रकारी की बारीकी और दोनों ओर खड़ी भीमकाय मूर्त्तियों की विशालता के अंतर पर गौर कीजिए। यह मंदिर ग्यारहवें राजवंश के सम्राट् रामसेज द्वितीय द्वारा लगभग १२५० ई० पू० (अर्थात् आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व) बनाया गया था।

मिस्री सूर्य के निर्दय ताप की चकाचौंध के कारण ही वहाँ वातायन-रहित सपाट दीवालोंवाले भवनों का आविष्कार हुआ। इन दीवालों में स्थान-स्थान पर उत्तरकालीन कला की निर्माण-शैलियों के ढंग की शिल्पकारी का प्रदर्शन नहीं था, वरन् उन पर अंकित या चित्रित दृश्यों की भरमार थी। इस तरह दीवाल का धरातल भवन का भाग न होकर मानों चित्रित पेपिरस अथवा शिला-लेख का विस्तार-सा बन गया। दीवारों, खंभों आदि पर उभड़ी हुई मूर्तियाँ प्रायः सुन्दर होते हुए भी विशाल मिस्री मन्दिरों के भीतर धुँधले प्रकाश के कारण स्पष्ट नहीं दीख पड़ती थीं, अतः उन्हें विशेषतया स्पष्ट करने के लिए उन पर गहरा रंग

चढ़ाया जाता था। रंग का यह प्रयोग इतना अधिक होने लगा कि रंग चढ़ाने के उद्देश्य से प्रायः अत्यंत उच्च कोटि की कलात्मक मूर्त्तियों पर भी एक प्रकार का अत्यधिक मसाले का लेप या प्लास्टर (stucco) चढ़ा दिया जाता था, जिसके कारण बहुत-सी अति सुन्दर मूर्तियों की सुन्दरता का प्रायः बलिदान हो जाता था।

मरुभूमि की एकान्त अनुर्वरता के मध्य में पाये जानेवाले उष्णकटिबन्धीय वनस्पति की हरियाली की प्रचुरता का प्रतिबिम्ब हमें मिस्र की इमारतों में उनके बाहरी रूप की भव्यता और विशालता तथा भीतर की ओर बारीकी के साथ की गई अत्यंत सूक्ष्म शिल्पकारी की मात्रा के अद्भुत सामंजस्य में दृष्टिगत होता है। मिस्री कलाकारों की कृतियाँ दीर्घकाय होती थीं, परन्तु उनकी सजावट वे जौहरियों की भाँति करते थे। किसी अन्य स्थान पर जो बातें असंगत होतीं, वे ही ऐसी नैसर्गिक असंगति के साथ मिलकर संगत प्रतीत होती हैं। प्राकृतिक दृश्यों की आड़ी और सीधी दृढ़ाङ्कित रेखाएँ उस स्थापत्यशैली का बहुत कुछ निश्चय करती हैं, जो इस प्रकार की पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखते हुए अपनायी जा सकती है। उत्तरी भारत के शिखरयुक्त मन्दिरों के गगन-चुम्बी कँगूरों में हिन्दू स्थापत्य-विशारदों ने हिमालय के शिखरों के उत्तुंग सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित किया था। इसी तरह मिस्री स्थापत्यकारों ने मिस्र के मैदानों की आड़ी रेखाओं और कगारनुमा पर्वतीय चट्टानों की सीधी रेखाओं का देर-अल-बहरी के मंदिर बनाने के निर्माण में पूर्णतया उपयोग किया है।

उपर्युक्त सिद्धान्त, जिनका प्रयोग मिस्र के स्थापत्यकला-विशारदों को अपने क्षेत्र में करना पड़ा, वहाँ की मूर्ति-कला पर दुगुनी शक्ति के साथ लागू हुए। विशाल आकार-प्रकार के रहस्यमय मिस्री मन्दिर में ग्रीस की मूर्तियों-जैसी कोई भी मूर्ति बहुत तुच्छ खिलौने-सी प्रतीत होती। ग्रीस की मूर्ति-कला की उल्लसित मांसलता नृत्य करते हुए चरवाहों के जीवन और लहराती नदियों के देश की उपज है, वह उस क्षणभंगुर विश्व की वस्तु है, जहाँ का सौंदर्य अस्थिर है—वह अनंत के भाव को व्यक्त करनेवाले प्राकृतिक दृश्य अथवा स्थापत्य की वस्तु नहीं। मिस्र के कलाकारों की मानसिक अवस्था को समझने के लिए हमें उन विशेषताओं या गुणों की ओर ध्यान देना पड़ेगा, जो उनके साहित्य में जीवन के आदर्श-स्वरूप माने गये हैं। प्राचीन मिस्र में अटल स्थिरता (Stability) और शक्ति या दृढ़ता सब गुणों से अधिक प्रशंसनीय समझे जाते थे और सार्वजनिक स्मारकों (Public Monuments) का नाम ही वहाँ "स्थिर वस्तुएँ" था। मिस्रवासियों में शक्ति, चिरस्थिरता, भव्यता, सामञ्जस्य और कर्मठता की भावना अत्यंत पूर्ण रूप में विद्यमान थी। इस भावना में सहानुभूति और दया का भी पुट था, जो एक विस्तृत सुसंगठित ढाँचे को संबद्ध किये हुए थीं। मिस्री कलाकार इन सारे जीवन के उद्देश्यों को अपनी कला में इस सत्यता और शक्ति के साथ सम्पुटित एवं अभिव्यंजित करते थे कि उनके व्यक्तित्व का प्रभाव उन सभी पर पड़ा है, जो उनकी कलाकृतियों की ओर आकृष्ट हुए हैं। वे अपने बाद आनेवाली किसी भी जाति की तुलना में सच्ची कला के सिद्धान्तों का पूर्णतया प्रतिपादन करते हैं।

सम्राट् जोसेर का सीढ़ीनुमा पिरामिड

यह मिस्र की सबसे प्राचीन इमारतों में माना जाता है। इसकी रचना लगभग ५००० वर्ष पूर्व उस युग के महान् मिस्री स्थपति इमहोतेप ने की थी। इसी तरह के पिरामिडों से आगे चलकर मिस्री पिरामिडों का विकास हुआ।
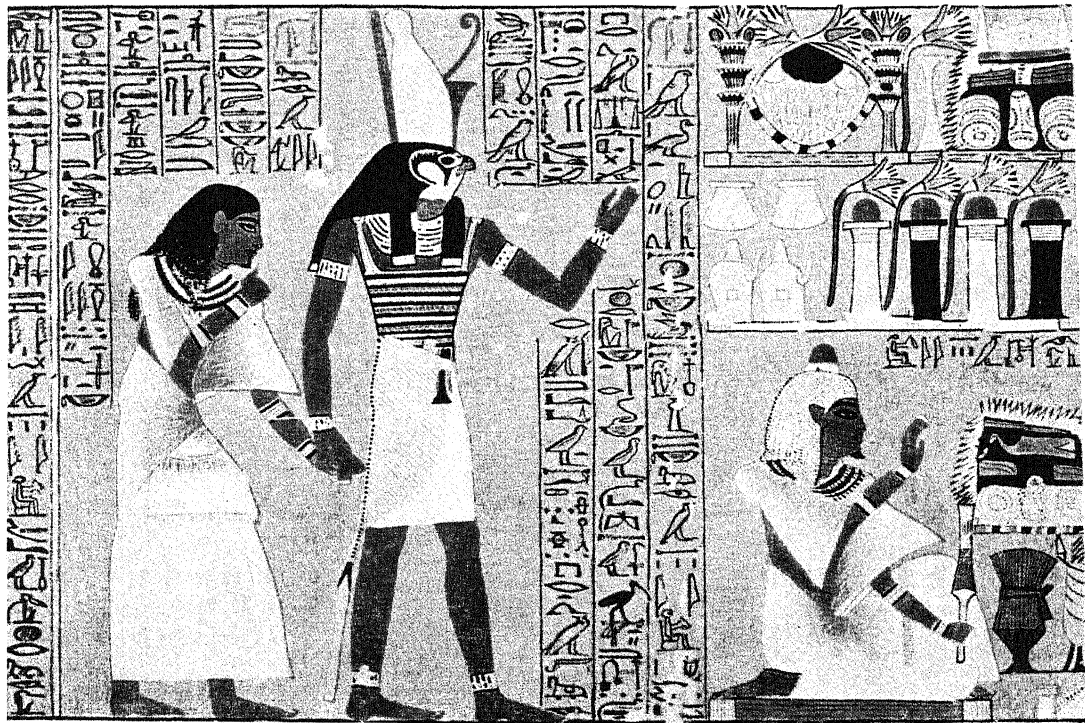
प्राचीन मिस्र की चित्रकला के उत्कृष्ट स्मारक—'अनी' के पेपीरस के दो दृश्य

ये चित्र ब्रिटिश म्युज़ियम में सुरक्षित प्राचीन मिस्र के एक 'पेपिरस' (एक प्रकार के काग़ज़ पर लिखित लेख) के अंश हैं। बीच-बीच में अंकित मिस्री भाषा की चित्रलिपि के चिह्न हैं, जिनसे आगे चलकर ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं के अक्षर बने।

चढ़ा
लगा
कोटि
धिक
जाता
सुन्दर

म
वाले
का प्र
की भ
साथ
सामं
गत
मिस्त्री
कारों
तियाँ
होती
उनक
वे जै
भाँति
किसी
स्थान
बातें
होतीं
नैसर्गि
गति
मिल
प्रती
प्राकृ
की
सीध
निश
रखा
शिर
पत्थ
को
ने
पर्वत
मंदि

मानव ने लिखना कैसे सीखा ?
वर्णमाला का विकास—(१)

पिछले एक भाग में हम यह लिख चुके हैं कि मनुष्य के आविष्कारों में सबसे अद्भुत वस्तु न तो रेल या हवाई जहाज़ ही हैं, न उसकी अन्य कला-कृतियाँ ही। उसकी सबसे अचरज-भरी खोज वह साधन है जिसकी बदौलत वह देश और काल की सीमाओं का उल्लंघन कर अपने विचारों को आनेवाली पीढ़ियों के लिए एक शाश्वत रूप में छोड़ जाने में समर्थ हुआ है। यह साधन है उसके द्वारा आविष्कृत अक्षर या वर्ण, जिनमें पिरोकर रक्खा हुआ उसके विचारों का अद्भुत लेखा आज दिन संसार की सबसे अनमोल और अद्भुत संपत्ति है।

जब मनुष्य ने सर्वप्रथम बोलना सीखा, उसने एक शक्ति का अनुभव किया। उसने समझा कि वह बोलकर अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट कर सकता है। जब सामाजिक जटिलताएँ बढ़ीं, उसको आवश्यक जान पड़ा कि जिन बातों को वह जीवन के लिए आवश्यक समझता है, अथवा जो बातें उसको सुन्दर प्रतीत होती हैं, उसकी मृत्यु के पश्चात् और लोग उनसे वञ्चित न रह जावें, उनको भूल न जावें। ऐसा क्योंकर हो, इस प्रयास में उसे सफलता कैसे मिले, यह उसकी आवश्यकताओं ने उसे सुझाया। इतिहास साक्षी है कि बोलने से पहले मानव ने चित्रण करना सीखा, और जब मनुष्य को बोलना आ गया और उसने बोलने की शक्ति को समझा, तो फिर उसे अपने विचारों को आनेवाली पीढ़ियों के लाभार्थ एक शाश्वत रूप में छोड़ जाने की प्रेरणा मिली। अतः उसने फिर से चित्रकला को अपनाया।

वर्णमाला के अक्षरों द्वारा आज हम अपने विचारों को जितनी सरलता के साथ व्यक्त कर लेते हैं, ६००० वर्ष पूर्व यह उतना सरल नहीं था। ऐसी वर्णमाला का आविष्कार, जिसके द्वारा मानव अपने अर्जित एवं सञ्चित विचारों और अनुभवों को अपने समाज के लाभार्थ चिरकाल के लिए सुरक्षित रख सके, सभ्यता की प्रगति में मानव की सबसे पहली महत्वपूर्ण विजय है। क्योंकि जब तक मानव अपनी कृतियों का लेखा आनेवाली पीढ़ियों के लिए न छोड़ जा सके, तब तक उसकी ज्ञान-राशि में लेशमात्र भी वृद्धि नहीं हो सकती। लेखा रहने से ही आनेवाली पीढ़ियाँ अपने पूर्वजों की कमाई से लाभ उठा सकती हैं और उन्नति कर सकती हैं।

लेखन-कला के अभाव में भी किन्हीं अंशों में सभ्यता उन्नतिशील अवश्य हो सकती है। विभिन्न धातुओं की वस्तुएँ, कपड़ा, मिट्टी के बर्तन, कविता आदि विशेष रूप से लेखन-कला की आश्रित नहीं। इन विषयों में ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे तक की उन्नति हो सकती है ! परन्तु लेखन-कला के अभाव में विधान रीति-रिवाज तक ही सीमित रह जायगा, इतिहास अनिश्चित कथा-वार्ता में परिणत हो जायगा, और धर्म (Religion) मन्त्र-जन्त्र की परिधि से बाहर नहीं आ सकेगा। हमारे वैदिक मन्त्र, रामायण और महाभारत की कथाएँ, यूनानवालों की ट्राय की कहानी, तथा देश-देश की परम्परागत लोक-कथाएँ आदि आज भी इस बात की साक्षी हैं कि धर्म, इतिहास, साहित्य आदि लेखन-कला के अभाव में भी कहाँ तक उन्नति कर सकते हैं। जिस प्रकार लेखन-कला के अभाव में साहित्य का होना सम्भव है, उसी प्रकार बिना वर्णमाला के लेखनकला का भी होना सम्भव है। परन्तु निश्चित वर्णमाला के अभाव में जो कुछ भी लेखा-जोखा होगा, वह अत्यंत ही क्लिष्ट

होगा और उसकी उपादेयता का क्षेत्र भी बहुत संकुचित होगा। मिस्र, असीरिया और चीन आदि देशों की वर्णमालाएँ पूर्ण न होने के कारण विशद वर्णनों के लिए विशेष कठिनाइयाँ उपस्थित करती हैं। फल यह होता है कि एक विशेष जाति ज्ञान और धर्म की अधिकारिणी बन जाती है; देशव्यापी संस्कृति का प्रसार असम्भव हो जाता है, तथा राज-सत्ता और प्रजा के बीच जो खाई होती है, वह बढ़ती ही जाती है। इस तरह वह लेखन-कला, जिसके द्वारा उन्नति होनी चाहिए थी, मानव को दासता की बेड़ियों में जकड़ने का एक प्रबल साधन बन जाती है।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि मानव की उन्नति के लिए विचारों को केवल लिपिबद्ध करने की विधि को मालूम करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि आवश्यक यह है कि कोई ऐसी सरल विशद लेखन-प्रणाली का आविष्कार किया जाय, जिसको मानव थोड़े समय में ही सीखकर उपयोग में ला सके।

वर्णाक्षरों द्वारा विचारों को लिपिबद्ध करने की प्रणाली यद्यपि आज इतनी सरल और सुविधाजनक है, परन्तु उसका आविष्कार अनेक कठिनाइयों से अभिभूत रहा है और सहस्रों वर्षों के अविरल परिश्रम द्वारा ही आज हम उसका पूर्ण रूप देखने में समर्थ हो सके हैं। अंग्रेज़ी वर्णमाला के २६ अथवा देवनागरी के ४२ अक्षरों को कार्योपयोगी सिद्ध करने के लिए मानव ने अपना समस्त मस्तिष्क-बल लगा दिया है। मिस्री, सैमेटिक और यूनानी तीनों विचारशील जातियों के अथक परिश्रम-स्वरूप आज हमको रोमन लिपि के २६ वर्णाक्षर मिल सके हैं।

यह बताने के पूर्व कि मानव ने किस प्रकार लिखना सीखा, हमको आदिम जीवन के बारे में भी थोड़ा जान लेना आवश्यक है। आरम्भिक अवस्था में जीवन पूर्णतया अव्यवस्थित था। चेतनता किसे कहते हैं, इसका मानव को लेशमात्र भी भान नहीं था। मरना और जन्म लेना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते थे। हज़ारों वर्षों में मानव ने प्राकृतिक जीवन की देखा-देखी अनुकरण करना सीखा, जिसने कालान्तर में परम्परा (Tradition) का रूप ग्रहण किया। इस तरह परम्परा मानव की स्मृति बनी। तब मानव ने चित्रकला सीखी, बोलना सीखा, मूर्तियाँ बनाना सीखा, और स्थापत्यकला को भी उसने अपनाया। बहुत काल तक, जब तक मानव को लिखना नहीं आया, उसने अपनी जातीय कथाओं, कविताओं, नाटकादि कण्ठस्थ रखे। उदाहरणार्थ वेद, उपनिषद् आदि सहस्रों वर्षों तक कण्ठस्थ ही रक्खे गये। राजदरबारों में हज़ारों वर्षों तक वीरों की यशोगाथा भाटों द्वारा जीवित रखी गई। भाषाओं के आधुनिक रूप के लिए हम बहुत अंशों में भाटों के आभारी हैं। जब लिखना आ गया, परम्परागत ज्ञान ने सुव्यवस्थित रूप पाया। वह विश्वसनीय समझा जाने लगा। विचारशक्ति में अधिक प्राण सञ्चरित हुआ। मानव एक दूसरे के अधिक निकट आने लगा। पहले तो पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ ही रहती थीं। लिखने में अधिक परिश्रम की आवश्यकता होने के कारण प्रतियों की संख्या सीमित होती थी, परन्तु मुद्रणालय ने इस कठिनाई को दूर किया। मानव ने एक असीम शक्ति को हस्तामलक किया। मुद्रणालय के आविष्कार से पहले अनेक बातें गोपनीय तथा रहस्य से आवृत रहती थीं। जो थोड़े-से लोग लिखना-पढ़ना जानते थे, उनसे जनता भयभीत रहती थी, उनका आतंक छाया रहता था। जब ज्ञान-प्रसार हुआ, तब रहस्य रहस्य न रह गया। अब ज्ञान के अनेक साझीदार बने। मानव ने आत्मशक्ति का आभास पाया। उसने जीवन का अनन्त रूप देखा और ज्ञान-राशि का सञ्चय किया। उसका यह उद्योग अब भी जारी है और तब तक जारी रहेगा, जब तक उसको व्यष्टि एवं समष्टि रूप में वास्तविक आनन्द की प्राप्ति नहीं हो जाती। मानव का अपने विचारों को लिपि-बद्ध करने का पहला उद्योग उसकी प्रथम ज्ञान-किरण थी, जिसका कि प्रकाश आज भी शनैः-शनैः तिमिरावृत मानव-जीवन को ज्योति-पूर्ण करने में संलग्न है।

विचारों को लिपि-बद्ध करने की प्रत्येक प्रणाली का प्रारंभ मूर्त पदार्थों के चित्रों द्वारा हुआ है। कालान्तर में यही चित्र सांकेतिक बन गये और मौलिक ध्वनियों के लिए काम में आने लगे। सर्वप्रथम लिपि भावचित्रानुरूप (ideographic) रही, तत्पश्चात् वह ध्वनि-बोधक चित्रों में परिणत होने लगी। भावबोधक चित्र पदार्थों अथवा विविध भावनाओं के द्योतक होते हैं। वे मूर्त पदार्थों के वास्तविक सांकेतिक चित्र अथवा अमूर्त पदार्थों के सांकेतिक चित्र होते हैं।

ध्वनिबोधक चित्र ध्वनियों के द्योतक होते हैं। इनकी उत्पत्ति भावबोधक चित्रों द्वारा हुई है। ये तीन प्रकार के होते हैं—(१) मौखिक (Verbal), जो पूर्ण शब्द के लिए प्रयुक्त होते हैं; (२) आक्षरिक (Syllabic), जो शब्दों के उच्चारण मात्र के लिए प्रयुक्त होते हैं, और (३) वर्णमाला के द्योतक चित्र अथवा अक्षर जो मौलिक ध्वनियों के लिए प्रयुक्त होते हैं।
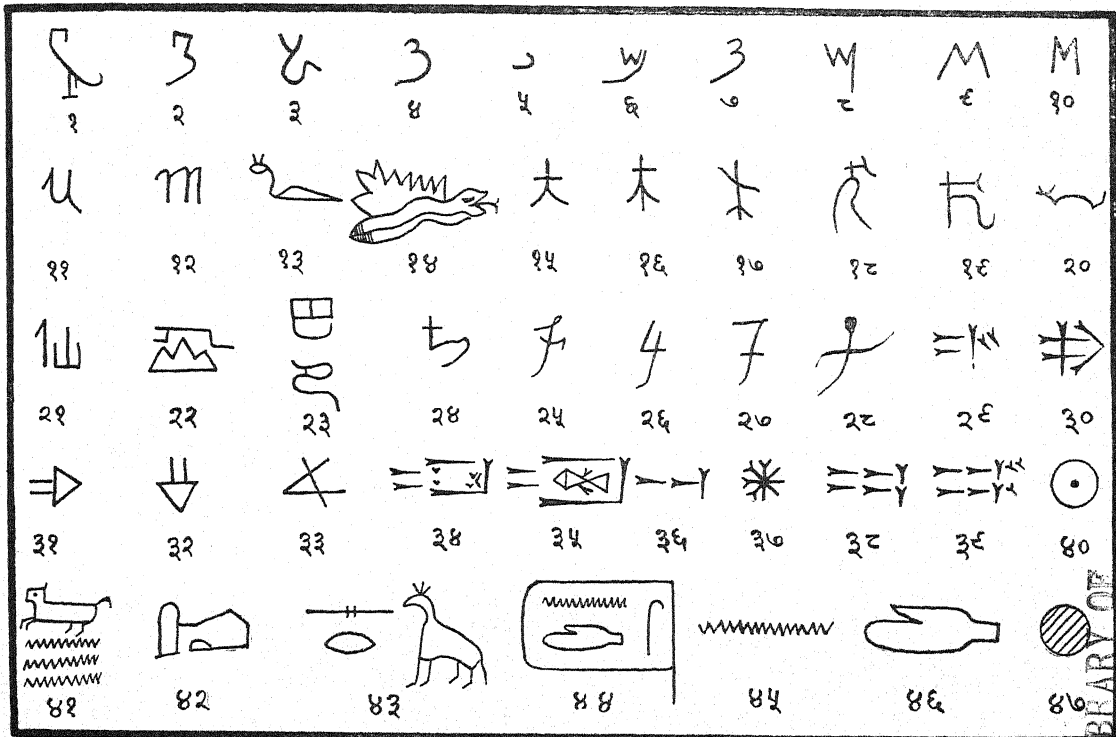
आज के अक्षरों के कुछ आदिम रूप

इस चित्र में दिये गये संकेत-चिह्नों का निर्देश प्रत्येक चिह्न के नीचे दिये गए नंबर द्वारा लेख में स्थान-स्थान पर किया गया है।

आज की वर्णमाला के अक्षरों में अब भी अनेक संकेत ध्वनिचित्रात्मक तथा भावचित्रात्मक होते हैं। ग्रोतफ़ेन्द (Grotefend) के कथनानुसार रोमन संख्या के भी संकेत प्राचीन भावचित्र ही हैं। I, II, III उँगलियों के चित्र हैं। V हाथ का कोण है, जो सिमटी हुई उँगलियों और अँगूठे से बनता है। इसी तरह VV या X दोनों हाथों के द्योतक चित्र हैं। IV और VI भी हाथ के चित्र हैं, जो कि एक उँगली के घटाने-बढ़ाने से बनते हैं।

प्रत्येक वर्णमाला के अक्षर ध्वनिबोधक चित्रमात्र हैं, जिनका रूप अब घिसते-घिसते सरल रह गया है। यदि किसी भी वर्णमाला का प्राचीन रूप खोजा जाय, तो हम उसको किन्हीं मूर्त पदार्थों का ही सांकेतिक चिह्न पायेंगे। अनेक शताब्दियाँ बीत जाने पर भी आज संसार भर में बोली जाने-वाली अंग्रेज़ी वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर अक्षुण्ण रूप से अपने सनातन रूप को रक्खे हुए है। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी वर्णमाला के अक्षर M (म) का प्राचीनतम रूप खोजने पर पता लगा है कि वह उलूक का सांकेतिक चित्रमात्र है। प्राचीन मिस्री भाषा में उलूक को 'मूलक' कहते हैं। मूल रूप में उलूक का चित्र उलूक का ही भावबोधक चित्र रहा होगा; तत्पश्चात् वह ध्वनिबोधक चित्र बना; इसके बाद वह आक्षरिक हुआ। 'मू' ध्वनि को व्यक्त करने के लिए अन्ततोगत्वा वह केवल 'म' ध्वनि को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होने लगा। इन अनेक परिवर्तनों के होने पर भी 'म' का प्राचीन उलूक का रूप अक्षुण्ण ही बना रहा। परन्तु जब पत्थर के स्थान पर चित्र (Hieroglyphics) पैपिरस (Papyrus) (एक प्रकार के काग़ज़) पर अंकित किये जाने लगे, तो सुगमता और शीघ्रता के साथ लिखे जाने के कारण उनका रूप अनवरुद्ध लिपि का (Cursive) हो गया और इसी कारणवश उलूक का चित्र भी ऐसा बना दिया गया जैसा इसी पृष्ठ के चित्र में नं० १ में दिखाया गया है। हाएरेटिक (Hieratic) लिपि में चित्र इतना सांकेतिक बन गया कि मूल चित्र का उसमें लेशमात्र भी आभास न रहा। केवल वे रूप रह गए, जो ऊपर के चित्र में नं० २ और ३ में दिखाये गये हैं। दिमौटिक

(Demotic) लिपि में, जो कि और भी अधिक अनवरुद्ध गति से लिखी जाती है, रूप और भी सरल हो गया। पहले (पृष्ठ ३४६ के चित्र में) नं० ४ जैसा और पश्चात् नं० ५ जैसा रूप बन गया। सैमेटिक वर्णमाला के अक्षर मिस्री चित्रों के हाएरेटिक रूपों से ही लिये गये मालूम होते हैं। सैमेटिक लिपि का प्राचीनतम लेख जो प्राप्त हो सका है, वह मोबाइट शिला का अभिलेख है। इस अभिलेख में अक्षर m (एम) का रूप (३४६ पृष्ठ के चित्र में) नं० ६ जैसा है। यह रूप बिना किसी कठिनाई के नं० ७ में प्रदर्शित हाएरेटिक अक्षर से समानता रखता है। मोबाइट अक्षर से वह पूर्व-ग्रीक रूप हो जाना एकदम आसान है, जो चित्र में नं० ८ में प्रदर्शित है। इसी के पीछे रूपान्तर वे हैं, जो चित्रों में नं० ९ १० और ११ में दिखाये गये हैं। इटली में जो यूनानियों के उपनिवेश थे, वहीं से रोमन वर्ण M का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे रूपान्तर हुआ नं० १२ में प्रदर्शित चिह्न में, जिससे हमको अंग्रेज़ी का m मिला। ६००० वर्ष पुराना होने पर भी इस अक्षर में उलूक का पूर्व रूप देखने को अब भी मिलता है। M (एम) में दो चोटियाँ उलूक के दोनों कान हैं और उनके बीच में उलूक की चोंच देखी जा सकती है, और इसी में पहली सीधी लकीर वक्षः-स्थल के स्थान पर है। m में बीच की लकीर चोंच की है और उसके दोनों ओर की लकीरें कानों का आभास देती हैं।

जो विशेषताएँ M (एम) अक्षर में दिखलाई गई हैं, वे सब अन्य अक्षरों में निहित हैं। अंग्रेज़ी अक्षर F (एफ़) का मूल है मिस्री बर्र (दे० पृष्ठ ३४६ के चित्र में नं० १३)। इसमें दो समानान्तर रेखाएँ दो सींग (horns) हैं और सीधी लकीर उसका शरीर है। इसी प्रकार यह साबित किया जा सकता है कि A का मूल रूप उक़ाब है, R का मुँह है और D का हाथ है।

अब इस बात का दिग्दर्शन किया जायगा कि भावचित्रात्मक और आक्षरिक संकेतों से किस प्रकार वर्णमाला के अक्षरों का उद्भव हुआ।

विद्वानों ने पता लगाया है कि संसार में पाँच स्वतंत्र रूपों से चित्र-लिपि का आविष्कार हुआ है। ये हैं—(१) मिस्री या इजिप्शियन, (२) क्यूनीफ़ार्म (Cuneiform), (३) चीनी, (४) मैक्सीकन और (५) हिटाइट।

इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य असभ्य जातियों की चित्र-लिपियों के उदाहरण भी सुरक्षित हैं। लेखन-कला का इतिहास बड़ा पुराना है। वह कितना पुराना है, यह केवल कल्पना और उपमान की सहायता से ही कुछ-कुछ बतलाया जा सकता है। इस काम के लिए जिन जातियों पर सभ्यता का रंग नहीं चढ़ा है, जो अब भी सभ्यता और संस्कृति के संसर्ग से दूर अपना जीवन बिता रही हैं, उनसे बहुत-कुछ सहायता मिल सकती है। दक्षिणी फ़्रांस में उन लोगों ने जो बर्फ़ीले युग के पीछे आये, अपने जीवन का कुछ लेखा छोड़ा है। यह हड्डियों, सींगों और विनष्ट पशुओं के हाथीदाँतों पर खुदे हुए कुछ चित्रों के रूप में उपलब्ध है। प्राचीनतम लेखा जो मिल सका है, वह है, एक दृश्य का जो एक सींग पर खुदा हुआ है। यह औवर्न (Auvergne) नामक स्थान में मिला है। इस दृश्य में एक शिकारी दिखाया गया है जो कि पूर्ण नग्नावस्था में है और एक बड़े ऊरस (Urus) नाम के पशु के पास तक, जो कि घास चर रहा है, पहुँच गया है, और भाले से हमला करने ही वाला है। उसी काल की गुफाओं से मैमथ, बारहसिंघे, सील, ह्वेल और भालुओं के चित्र भी उपलब्ध हुए हैं। इन चित्रों में बहुत उच्च कोटि की कला देखने को मिलती है। आधुनिक समय की असभ्य जातियों में भी हमको ऐसे ही प्रयास के उदाहरण मिलते हैं। असभ्य जातियों में जब कोई बड़ा आदमी मर जाता है, तो उसकी समाधि पर एक पत्थर, जिस पर उसके घराने के परम्परागत पशु का चित्र (Totem) बना होता है, रख दिया जाता

रेड इंडियन जाति का २०० वर्ष पुराना एक संकेत-चित्र

इसमें एक सरदार की विजय का उल्लेख है। चित्र में नीचे की ओर २३ खड़ी रेखाएँ युद्ध-भूमि की ओर जा रहे २३ योद्धा हैं। अन्य संकेत चिह्नों के लिए पृष्ठ ३५१ का मैटर देखिए।

है। स्काटलैंड के पिक्ट लोगों के पत्थर, लैपलैण्ड निवासियों के ढोल पर बने चित्र, तथा ऑस्ट्रेलिया, अरब, व पीरू की चट्टानों पर खुदे हुए लेख हमको स्मरण दिलाते हैं कि मानव ने अपनी कृतियों का लेखा छोड़ने का कैसा-कैसा प्रयत्न किया है। इनके अनुशीलन से यह तथ्य प्राप्त होता है कि मानव मस्तिष्क ने इस काम के लिए प्रत्येक देश में प्रायः एक ही साधन को अपनाया है।

उत्तरी अमरीका की रैड इंडियन जाति के २५० वर्ष के पुराने लेखे मिले हैं, जो कि पेड़ों की छालों पर खुदे हुए हैं। पृष्ठ ३५० पर दिये गये चित्र में, जो लगभग २०० वर्ष पुराना है और अमरीका की ओहियो रियासत में एक पेड़ की छाल पर खुदा हुआ मिला है, विंज मुण्ड (Wingemund) नाम के सरदार की विजय की स्मृति को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। यह विजय उसने अंग्रेज़ों पर सन् १७६२-६३ में प्राप्त की थी।

उक्त चित्र में नीचे की ओर २३ योद्धा युद्धभूमि की ओर जा रहे हैं। सूर्य्य चमक रहा है। सेनाएँ युद्धभूमि को दो बार गयी हैं—पहली छः दिन तक चलती रही, दूसरी चार दिन तक। बीच में तीन अंग्रेज़ी क़िलों के चित्र हैं जिन पर हमले हुए हैं। दो नदियों के संगम पर स्थित सबसे नीचेवाले क़िले का नाम फ़ोर्ट पिट है। सीधे हाथ की ओर चौकोर क़िला, जिसमें दो व्यापार-गृह हैं, दित्रोआ (Detroit) का है, और तीसरा क़िला ऐरी झील में स्थित है। बाईं ओर को दस विजित शत्रु खड़े हैं। चार (जिनके सिर हैं) क़ैद कर लिये गये थे और शेष छः खेत रहे। कोने में कछुए का चित्र है। यह एक भाव-बोधक चित्र है, जिसका अर्थ 'रक्षा का स्थान' है। यह भाव-चित्र लिपिकला की प्रगति दिखलाता है। शेष अन्य चित्र केवल भूत पदार्थों के हैं। कछुए का चित्र सांकेतिक लिपि का अग्रदूत है। वह एक भावना का द्योतक है। इसी तरह से 'पाइप' शान्ति का, 'अंगूर की बेल' मित्रता का, 'पङ्ख फैलाए हुए पक्षी' शीघ्रता का, 'अग्नि' कुटुम्ब का, और 'वृत्त' समय का द्योतक है। ऐसे ही सांकेतिक चित्रों द्वारा नोवास्कौटिआ और न्यू ब्रन्सविक के मिकमाक (Milkmak) लोग पूर्ण वाक्यार्थ व्यक्त कर लेते हैं। चित्र-लिपि एक

	१	२	३	४
उक़ाब				A
बगुला				B
सिंहासन				C
हाथ				D
भूलभुलैयाँ				E
बर्रे				F
बत्तख़				Z
चलनी				H
चिमटा				
समानान्तर रेखाएँ				I
प्याला				K
सिंहनी				L
उल्लू				M
जल				N
कुर्सी की पीठ				X
......				O
खिड़की				P
सर्प				
कोण				Q
मुख				R
जलपूर्ण उद्यान				S
फन्दा				T

(दाहिनी ओर) रोमन अक्षरों का विकास

इस चित्र में नं० १ के नीचे के संकेत मिस्री हाएरोग्लाइफ़िक संकेत हैं, जिनसे क्रमशः नं० २ के नीचे दिये गये हाएरैटिक संकेत-चिह्न, फिर उनसे नं० ३ के नीचे दिये गये फ़िनीशियन संकेत-चिह्न और अंत में नं० ४ के नीचे दिये गये रोमन अक्षर बन गये।

क़दम और आगे बढ़ गई, जब कि सीधे-सादे भाव-चित्रों को सम्मिलित कर जटिल विचारों को व्यक्त किया गया। प्राचीन चीनी लिपि में 'विवाहिता स्त्री' का बोध कराने के लिए 'स्त्री' और 'झाड़ू' के सांकेतिक चित्रों को जोड़ दिया जाता था; और 'प्रेम करना' क्रिया का बोध कराया जाता था 'स्त्री' और 'पुत्र' के चित्रों द्वारा। आदिम क्यूनी-फ़ार्म लिपि में भी ठीक यही तरीक़ा काम में लाया जाता था। 'बन्दीगृह' का बोध 'घर' और 'अंधकार' के सांकेतिक चिह्नों से कराया जाता था। 'अश्रु' का बोध 'चक्षु' और 'जल' के चिह्नों से।

भाव-बोधक चित्रों के पश्चात् बारी आती है ध्वनि-बोधक चित्रों की। मैक्सिको देश की चित्र-लिपि के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भावचित्र ध्वनि-बोधक चित्रों में परिणत हो गये। चतुर्थ मैक्सिकन राजा का नाम था इत्ज़-कोत्ल। 'इत्ज़' का अर्थ है 'चाक़ू' और 'कोत्ल' का अर्थ है 'सर्प'। इसका बोध कराया गया है, पृष्ठ ३४९ के चित्र में नं० १४ में दिखाये गये चिह्न द्वारा। जब व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का बोध कराने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब ध्वनि-बोधक चित्रों का निर्माण हुआ।

अमेरिका के यूकातान (Yucatan) निवासी माया लोगों के ध्वनि-संकेतों में लिखे कुछ आलेख प्राप्त हुए हैं और ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन संकेतों के मूल रूप मैक्सिकन चित्र (Hieroglyphics) हैं। उसी वर्ण-माला में लिखी हुई तीन हस्तलिपियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इनके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कुछ आक्षरिक संकेतों और भाव-चित्रों के अतिरिक्त माया लोग २४ चिह्न और काम में लाते थे, जो कि अवश्य ही वर्णमाला के अक्षर रहे होंगे। यह लिपि चीनी या असीरियन जातियों की लिपियों से कहीं अधिक पूर्ण है। पर दुःख का विषय है कि मध्यवर्ती अमेरिका की लिपियों के बारे में विशेष नहीं मालूम हुआ है। वे केवल अद्भुतालय की ही शोभा बढ़ा सकती हैं। उनके द्वारा लेखन-कला की प्रगति पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

जब हम चीनी वर्णों पर दृष्टिपात करते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि आदि काल में मानव ने किस प्रकार चित्र-लिपि द्वारा अपने विचारों तथा संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया था। चीनी वर्णों के अध्ययन से एक बात और भी मालूम होती है कि यह लिपि सांकेतिक चित्र-लेखन की परिधि से बाहर न जा सकी। यह चीनी प्रगति के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ है।

यदि आधुनिक चीनी लिपि की प्राचीन लिपि से तुलना की जाय, तो मूल का पता तो लग जाता है पर साम्य किसी भी बात में दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरणार्थ, 'श्वान' के लिए सांकेतिक चिह्न है पृष्ठ ३४९ के चित्र में नं० १५ जैसा और लकड़ी के लिए नं० १६ जैसा है। इन दोनों सांकेतिक चिह्नों में, उन वस्तुओं की अपेक्षा जिनका उनके द्वारा बोध होता है, अधिक साम्य है। किन्तु जब हम इन सांकेतिक चिह्नों के मूल रूप का पता लगा लेते हैं, तो सब समझ में आ जाता है। 'लकड़ी' के लिए मूल सांकेतिक चिह्न पहले ३४९ पृष्ठ के चित्र में नं० १७ जैसा था। इस रूप में वृक्ष की शाखाएँ, तना और जड़ों को पहचानना कोई मुश्किल नहीं। 'श्वान' के मूल सांकेतिक रूप नं० १८, १९ और २० के चित्रों जैसे थे। इनमें श्वान का आकार स्पष्ट झलक रहा है। मूल भावचित्र में श्वान का शरीर, टाँगें, दुम, सिर और कान देखकर आधुनिक लिपि संकेत भी समझ में आ जाता है।

'साधु' का बोध कराने के लिए दो सांकेतिक चिह्न हैं, जो कि संयुक्त रूप में इस प्रकार लिखे जाते थे, जैसे ३४९ पृष्ठ के चित्र में नं० २१ में दिखाये गये हैं। इनका प्राचीन रूप नं० २२ के चिह्न जैसा था, जिसमें दो सांकेतिक चित्र 'मनुष्य' का 'पर्वत' पर रहने का बोध कराते हैं।

अधिक विशद वर्णन के लिए प्रतीकों का सहारा लिया गया। मूर्त पदार्थों के चित्र अमूर्त विचारों को व्यक्त करने के लिए प्रतीक-तुल्य प्रयुक्त किये गये। 'रक्षा' का बोध कराने के लिए एक 'हाथ' का चित्र बनाया गया, जो कि 'अबला' की सहायता के लिए तना हुआ है। 'वृक्ष' के चित्र के नीचे 'सूर्य' का चित्र अन्धकार का बोध कराने लगा और 'वृक्ष' के चित्र के ऊपर 'सूर्य' का चित्र या 'चन्द्र' और 'सूर्य' के चित्र साथ-साथ प्रकाश का बोध कराने लगे। दो मिले हुए हाथों से 'मित्र' का अर्थ लिया गया। इसी प्रकार ४०,००० चीनी शब्दों में से अधिकांश सांके-तिक चिह्न बन गये। इनको चित्र के बजाय प्रतीक कहना अधिक युक्तिसंगत होगा; क्योंकि आधुनिक चीनी लिपि में बहुत कम चिह्न ऐसे रह गये हैं, जिनमें मूल चित्रों का लेश-मात्र भी आभास मिल सके। चीनी लिपि के अध्ययन करने पर हमको उसकी क्लिष्टता और उसके निर्माताओं की बुद्धि-मत्ता पर चकित होना पड़ता है।

चीनी भाषा की विचित्रता के कारण उसकी लिपि भी विचित्र ही प्रकार की बनी। चीनी भाषा धातु-प्रधान है। उसमें ऐसे कोई चिह्न नहीं, जिनके द्वारा काल, पुरुष,

वचन, कारक और अर्थ (Mood) का पता लग सके। एक शब्द अपने उसी रूप में संज्ञा, क्रिया, विशेषण, क्रिया-विशेषण सबके लिए प्रयुक्त हो सकता है। प्रत्येक शब्द में एक अक्षर (Syllable) होता है। शब्दों का व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान वाक्य में उनकी जैसी स्थिति हो उसी से लग सकता है। चीनी भाषा में स्वर और व्यंजनों की विभिन्न एकाक्षरी संहिताओं की संख्या ४५० है। चार विभिन्न स्वरपातों के प्रयोग से १२०३ सुबोध्य एकाक्षरी शब्दों का उच्चारण संभव है। परन्तु सभ्यता की दौड़ में बढ़ी हुई चीनी जाति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ये शब्द बहुत ही थोड़े हैं, यह स्पष्ट है। इसीलिए चीनी भाषा में बहुत से होमोफ़ोन्स (Homophones) हैं। होमोफ़ोन वह है जिसमें एक ही उच्चारण से अनेक शब्दों का काम निकाला जाता है। इसी कारण अधिकांश चीनी एकाक्षरों के एक से अधिक अर्थ होते हैं। बहुत-सी गड़बड़ संकेतों और स्वरपात से दूर की जाती है। लिखने के समय भी किसी ऐसे ही प्रयत्न की आवश्यकता प्रत्यक्ष है। अंग्रेज़ी में तो 'राइट' (Right) और 'राइट' (Write) उच्चारण में एक होने पर लिखने के समय विभिन्न वर्ण-विन्यासयुक्त होते हैं। चीनी भाषा में किसी चीनी शब्द को पूर्णतया बुद्धिगम्य करने के लिए दो प्रतीक प्रयुक्त होते हैं। इनमें एक तो ध्वनि-बोधक होता है और दूसरा भाव-बोधक। भाव-बोधक प्रतीकों को चीनी में टीका (Key) कहते हैं। उदाहरणार्थ, चीनी में 'पा' ध्वनि के आठ विभिन्न अर्थ होते हैं; इसका अर्थ है कि आठ विभिन्न शब्द हैं, जिनका एक ही उच्चारण है। एक ध्वनि-बोधक चिह्न इस तरह लिखा जाता है जैसा पृष्ठ ३४९ के चित्र में नं० २३ के दो चिह्नों में ऊपर का चिह्न है; इस चिह्न का मूल रूप उसी के नीचे दिखाया गया है, जो किसी जानवर की दुम के सदृश है। 'वृक्षों' की टीका (Key) के साथ इस ध्वनि-बोधक चिह्न का अर्थ होगा 'केले का पेड़', 'लोहे' की टीका (Key) के साथ इसका अर्थ होगा 'लड़ाई का रथ' 'रोग' की टीका के साथ अर्थ होगा 'घाव' और 'मुख' की टीका के साथ अर्थ होगा 'चिल्लाहट'। इसी प्रकार अन्य चार अर्थ और होंगे।

विचार करने से समझ में आ जायगा कि चीनी भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कोई आसान काम नहीं। वह लगभग असम्भव है। एक मामूली चिट्ठी लिखने या एक मामूली पुस्तक पढ़ने भर को लगभग ६००० या ७००० सांकेतिक चिह्नों को स्मरण रखने की आवश्यकता है। जितनी पढ़ने-लिखने की क्षमता एक हिन्दी के विद्यार्थी को ६ या ७ वर्ष की अवस्था में होती है, उतनी चीनी विद्यार्थी को २५ वर्ष की अवस्था में मुश्किल से होती है। यदि हिन्दी-भाषा या साहित्य का साधारण ज्ञान चार या पाँच साल में हो सकता है, तो चीनी भाषा के विद्यार्थी को उतना ही सीखने के लिए बीस साल लग जाते हैं। भला इतना समय कहाँ से आए, और किसको इतना अवकाश और धैर्य प्राप्त है, जो ऐसी क्लिष्ट भाषा को सीखने का उद्योग करे? स्पष्ट ही है कि ऐसा कार्य एक विशेष वर्ग के लोगों के मत्थे डाल दिया जाता है, जिनका काम ही जीवन-पर्य्यन्त पढ़ना-लिखना रह जाता है।

लेखन-कला को अधिक सुविधाजनक तथा सरल बनाने के लिए आक्षरिकता (Syllabism) का आश्रय ग्रहण किया गया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है जापानी लिपि; जिसका उद्भव चीनी लिपि से हुआ। चूँकि जापानी भाषा अनेकाक्षरी (poly-syllabic) है, अतएव उसमें मौखिक ध्वनि-बोधक चीनी वर्णों (Characters) का प्रयोग आक्षरिक चिह्नों के रूप में होना सम्भव था। अतः आक्षरिकता की ओर प्रगति अनिवार्य हो गई। हीराकाना (Hirakana) अक्षरों में 'त्सी' (tia) के लिए वह अक्षर है जो ३४९ पृष्ठ के चित्र में नं० २४ में प्रदर्शित है और काताकाना (Kasakana) में इसी के लिए नं० २५ वाला चिह्न है, जिसका अव्याहृत लिपि-चिह्न है नं० २६ वाला चिह्न। यह प्रतीक लिये गये हैं चीनी सांकेतिक चिह्न सि (si) (दे० उक्त चित्र में नं० २७) से जिसका अर्थ है पुत्र। इसका मूल रूप उक्त चित्र में नं० २८ का चित्र है।

चार हज़ार वर्षों तक चीनी भाव-बोधक सांकेतिक चिह्नों (Ideograms) की परिधि से आगे न बढ़ सके। किन्तु जब दूसरी जाति के लोगों ने उनके प्रतीकों को देखा, और समझा, तो तुरन्त ही आवश्यकतानुसार उन्होंने उनका उपयोग किया। देखा गया है कि ऐसे परिवर्तन दो विभिन्न जातियों के पारस्परिक संसर्ग द्वारा ही संभव हैं। उदाहरणार्थ मिस्री चित्र-लिपि में सुधार किये सैमेटिक जाति ने और सैमेटिक वर्णमाला में सुधार किये यूनानियों, आर्यों और ईरानियों ने। जब एक जाति ने अन्य जाति की लिपि को देखा, तो उसमें अपने लिए उपयोगी आवश्यक परिवर्तन तथा सुधार किये। क्यूनीफ़ार्म या कीलाक्षर लिपि के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य घटित हुई। तुरानी जाति ने इसका आविष्कार किया; उनसे वह सैमेटिक जातिवाले असीरियनों और बैबीलोनियन लोगों के यहाँ पहुँची। सैमेटिक क्यूनीफ़ार्म से तुरानी प्रोटो-मीडिक

का जन्म हुआ और ईरानी आर्यों ने क्यूनीफ़ार्म वर्ण-माला को जन्म दिया। जिन प्रकारों से लिपि में विविध सुधार और परिवर्तन होते हैं, क्यूनीफ़ार्म लिपि इसका एक आश्चर्यजनक सच्चा उदाहरण है—किस तरह मूल चित्र से भाव-बोधक चित्र बनते हैं और फिर ये मौखिक ध्वनि-बोधक चित्रों से आक्षरिक संकेतों में परिणत हो जाते तथा अन्ततोगत्वा वर्णमाला के अक्षर बन जाते हैं! ३४६ पृष्ठ के चित्र में नं० २६ का चिह्न एक असीरियन सांकेतिक चिह्न है, जिसको 'अल्पू' कहते हैं; इसका अर्थ है 'बैल'। इस असीरियन रूप का हाइरैटिक बैबीलोनियन रूप नं० ३० का चिह्न है और इसका लीनियर (Linear) बैबीलोनियन रूप है नं० ३१ का चिह्न। यदि इसको थोड़ा घुमाकर सामने से देखा जाय (दे० नं० ३२ का चिह्न) तो बैल के सिर और सींगों का आकार दिखलाई पड़ेगा। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इस मूल चित्र और नं० ३३ के फ़िनीशियन सांकेतिक चिह्न में अधिक अन्तर नहीं है। संयुक्त सांकेतिक चिह्न भी छोटे-छोटे रूपों के मेल से बनाये गये। निनेवेह (Nineveh) नगर का बोध कराने के लिए भाव-बोधक प्रतीक है नं० ३४ में प्रदर्शित चिह्न। इसका प्राचीन रूप है नं० ३५ का चिह्न। यह सांकेतिक चित्र दो भावबोधक चित्रों को मिलाने से बना। इसमें प्रदर्शित है एक 'घर', जिसमें 'मत्स्य' है। इस चित्र में उस काल के इतिहास की झलक मिलती है कि शाही निनेवेह एक समय केवल मछुवों की बस्तीमात्र था। जब यह लिपि असीरिया पहुँची, तो उसमें अनेक सुधार किये गये। क्यूनीफ़ार्म लिपि के निर्माताओं की भाषा अनेकाक्षरी थी। अतएव उन्होंने अपनी भाषा को सरल करने के लिए उसे आक्षरिक बनाने का प्रयत्न किया। उन्हों-ने मूल भाव-बोधक चित्र को ध्वनि-बोधक मान लिया, फिर इस प्रतीक द्वारा उन्होंने शब्द के आदि अक्षर के उच्चारण का बोध कराया। उदाहरणार्थ आकाश का वाचक साधारण संकेत (पृष्ठ ३४६ के चित्र में नं० ३६ का चित्र) है। यह भावबोधक तारे के चित्र (देखो उक्त चित्र में नं० ३७) का सरलीकृत रूप है। प्रोटो-बैबीलोनियन धर्म में नक्षत्रों की उपासना मुख्य थी। इसलिए यह सांकेतिक चिह्न 'भगवान्' के लिए प्रतीकात्मक भाव-बोधक चित्र बना। भग-वान् के लिए मूल शब्द ऐकेडियन भाषा में 'ऐना' है। इसका सरलीकृत रूप हुआ 'ऐन'। इस प्रकार हमने देखा कि पहले तो सांकेतिक चिह्न आकाश का बोध करानेवाला भाव-बोधक चिह्न बना, और भगवान् के लिए भी वह प्रयुक्त हुआ, और अन्तिम अवस्था में वह केवल 'ऐन' के उच्चारण-बोधक ध्वनि-बोधक चिह्न के रूप में प्रयुक्त हुआ। जब एक बार मूल ध्वनि-बोधक संकेतों से अक्षरों का निर्माण हो गया, तो इन अक्षरों को मिलाकर अनेकाक्षरी शब्दों का बोध कराया जाने लगा। उदाहरणार्थ, 'प्रकाश' का बोध करानेवाला आक्षरिक चिह्न वह है, जो ३४६ पृष्ठ के चित्र में नं० ३८ में दिया है। इसको 'पर्वत' बोधक चिह्न से संयुक्त करा दिया, तो वह संयुक्त ध्वनि-बोधक संकेत बना, जो नं० ३६ में दिया है, और जिसका अर्थ होता है 'आत्मा'।

क्यूनीफ़ार्म में अनेक जटिलताएँ कालान्तर में प्रवेश करने लगीं। असली वर्णमाला का उद्भव तो ईरानी आर्यों द्वारा ही हुआ, परन्तु ईरानी क्यूनीफ़ार्म में भी कई बातों का अभाव खटकता है, जिसके कारण वह पूर्ण वर्णमाला के अधिकार से वञ्चित रह गई। कदाचित् ईरानियों को वर्णमाला की आवश्यकता फ़िनीशियन वर्णमाला से परिचय होने पर सूझी। फ़िनीशियन वर्णमाला फ़रात की घाटी में ईसवी पूर्व आठवीं शताब्दी में प्रचलित थी और वह क्यूनीफ़ार्म लिपि की समकालीन थी। ओपर्ट के कथनानुसार प्रोटो-मीडिक अक्षरों से थोड़े-से क्यूनीफ़ार्म वर्ण (Characters) लिये गये। उनको और सरल बनाया गया और भावबोधक सांकेतिक अर्थों का ईरानी भाषा में अनुवाद किया गया। इस प्रकार ईरानी शब्द बनने पर आद्यक्षरोचारण सिद्धान्त (Acrologic Principle) के अनुसार वर्णमाला तैयार की गई। ईरानी वर्णमाला के अनुशीलन से विकासवाद के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। मनमाने आविष्कार नाम की कोई चीज़ नहीं है। जिस प्रकार वृक्षों और पशुओं का विकास होता है, उसी प्रकार लिपि का भी। जिस प्रकार मूल चित्रों से ईरानी वर्णमाला के अक्षरों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार मिस्री चित्रों से अंग्रेज़ी वर्णमाला की उत्पत्ति हुई। इसका इतिहास बड़ा ही विस्मयजनक है।

जब हम क्यूनीफ़ार्म और चीनी लिपियों की मिस्री चित्र-लिपि से तुलना करते हैं, तो शीघ्र ही समझ में आ जाता है कि किस प्रकार मिस्री चित्र-लिपि बनी।

यह तो स्पष्ट ही है कि मिस्री चित्र-लिपि का श्रीगणेश अन्य लिपियों की भाँति भाव-बोधक चित्रों से हुआ और बहुत-से चित्र अपने पूर्व रूप में अन्त तक प्रयुक्त होते रहे। उदाहरणार्थ पृष्ठ ३४६ में नं० ४० वाला प्रतीक सूर्य का बोध करानेवाला भाव-बोधक चित्र-संकेत ही है। अनेक अमूर्त विचार प्रतीकों द्वारा बुद्धिगम्य किये गये। 'प्यास' का बोध जल की ओर दौड़ते हुए वत्स द्वारा कराया गया

(दे० पृष्ठ ३४६ के चित्र में नं० ४१); 'लड़ाई' का बोध दो भुजाओं द्वारा कराया गया है (उक्त चित्र में नं० ४२), जिनमें एक भुजा ढाल को पकड़े हुए है और दूसरी में एक भाला है।

इसके पश्चात् मूल भाव-बोधक संकेतों से मौखिक ध्वनि-बोधक संकेतों की उत्पत्ति हुई और फिर आद्यक्षर सिद्धान्तानुसार ये ध्वनि-संकेत आक्षरिक संकेतों के लिए प्रयुक्त हुए। 'वंशी' का चित्र 'उत्तमता' का प्रतीक समझा जाता था। तत्पश्चात् वह 'अच्छे' का बोध कराने के लिए ध्वनि-बोधक संकेत बना। मिस्री भाषा में इसके लिए 'नेफ़र' शब्द है। परन्तु यह ध्वनिसंकेत दो शब्दों के अर्थ में प्रयुक्त होता है—एक का अर्थ 'अच्छे' का है और दूसरे का 'यथासम्भव'। अतएव हम देखते हैं कि वही संकेत वंशी का बोध कराने के लिए भाव-बोधक चित्र-संकेत है और 'अच्छाई' का बोध कराने के लिए है भाव-बोधक प्रतीक। फिर वही 'यथासम्भव' के अर्थ में ध्वनि-बोधक उपसर्ग 'नेफ़र' बना और अन्त में 'ने' का बोध कराने के लिए आक्षरिक संकेत बन गया ('ने' 'नेफ़र' का आद्यक्षर है।)

जब ध्वनि-बोधक कठिनाई दूर हो गई तो आक्षरिक संकेतों को मिलाकर संयुक्त ध्वनि-बोधक संकेत बने। ऐसा होने पर बहुत से प्रतीक अनेक-ध्वनि-बोधक (Polyphonic) बन गए। इनका अर्थ स्पष्ट करने के लिए अनेक विशेषणों (Determinatives) का प्रयोग किया जाने लगा। ये विशेषण दो प्रकार के होते थे—एक विशेष, दूसरे जाति-बोधक (Generic)। उदाहरणार्थ पृ० ३४६ के चित्र में नं० ४३ वाले समूह में (जो मिस्री शब्द 'सेर' का प्रतीक है, और जिसका अर्थ है जिराफ़) पहले दो प्रतीक ध्वनि-बोधक संकेत हैं और वे 'सेर' की ध्वनि को व्यक्त करते हैं। इनके पश्चात् एक पशु का चित्र है जो कि **विशेष** विशेषण है। इन **विशेष** विशेषणों की संख्या अपरिमित है। जातिबोधक विशेषणों की संख्या लगभग १०० है और इनका प्रयोग विशेष स्थलों पर ही होता है। उदाहरणार्थ, 'चक्षु' का प्रयोग होता है उन शब्दों के लिए जो देखने और समझने से सम्बन्ध रखते हैं; 'दो टाँगों' का प्रयोग होता है चलने का भाव व्यक्त करने के लिए, 'बत्तख' का प्रयोग होता है समस्त पक्षियों के लिए।

यहाँ तक तो मिस्री लिपि क्यूनीफ़ार्म और चीनी लिपियों की भाँति कार्य-साधन करती रही। लेकिन अब एक अन्तर उपस्थित हुआ। इसमें अनेक भावबोधक और आक्षरिक चिह्नों से सम्बन्धित कुछ ऐसे संकेत (Characters) हैं जिनको हम वर्णाक्षरिक कहने के लिए मजबूर हैं। इन्हीं वर्णाक्षरिक प्रतीकों से विश्वव्यापी अंग्रेज़ी लिपि का उद्भव हुआ है। ये प्राचीनतम स्मारकों पर अभिलिखित हैं। महीपति सेंत (King Sent) के प्राचीनतम लेख में राजा का नाम व्यक्त करने के लिए वे वर्णाक्षर प्रयुक्त हुए हैं जो पृ० ३४६ के चित्र में नं० ४४ में प्रदर्शित हैं। अंग्रेज़ी अक्षर n (एन) और डी (d) के मूल हैं उक्त चित्र में नं० ४४ और ४५ वाले संकेत-चिह्न, जिनके द्वारा राजा सेंत का नाम लिखा गया है।

एक और उदाहरण मिस्री सम्राट् खैफ़ू (Khefu) की अँगूठी का है। खैफ़ू ने ही पिरामिड बनवाए हैं। इस अँगूठी पर अंकित जो प्रतीक हैं, उनका हम आज भी प्रयोग करते हैं। पहला प्रतीक है पृ० ३४६ के चित्र में नं० ४७ का चिह्न जो एच (H) का मूल है; दूसरा प्रतीक है बर्र (दे० उक्त चित्र में नं० १३), जिससे F, Y, V, U और W की उत्पत्ति हुई है। इन वर्णाक्षरों से एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात प्रकट होती है। वह यह कि ये अक्षर पिरामिडों से भी प्राचीन हैं। उस आदि काल में भी मिस्री जाति इतनी उन्नतिशील थी, यह कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है।

वर्णाक्षरों का आविष्कार कोई मामूली बात नहीं। न तो बैबिलन के लोग, न असीरिया के लोग, न मीडी, न जापानी—कोई भी आक्षरिक मंज़िल से आगे न बढ़ पाये। इन जातियों के अक्षरों में स्वर-ध्वनि-बोधक प्रतीक तो मिलते हैं, पर इनसे अधिक कठिन व्यञ्जन-बोधक प्रतीक तक उनकी पहुँच तक न हो पाई। ऐसी ध्वनि की उत्पत्ति, जो बिना दूसरी ध्वनि की सहायता के उच्चारण न की जा सके, आसान नहीं। यह काम मिस्री जाति ने ही किया। अन्त में मिस्री वर्णमाला के निर्माण में कुछ विशेष प्रतीक प्रयुक्त होने लगे। आरंभ में लगभग ४०० मिस्री ध्वनि-संकेत थे। घटते-घटते ये ३५ रह गए।

चित्र-लिपि में वर्णाक्षर हज़ारों वर्षों तक छिपे रहे। आवश्यकता इस बात की थी कि उसमें जितने भी अनावश्यक उपादान थे, उनको अलग कर दिया जाता, जिससे कि वर्णमाला का प्रयोग और अधिक सरल तथा सुबोध हो जाता। यह काम सैमेटिक जाति ने किया। इसी जाति ने संसार को वर्णमाला दी और उसके द्वारा मानव को पढ़ने को सर्वप्रथम पुस्तक मिली।
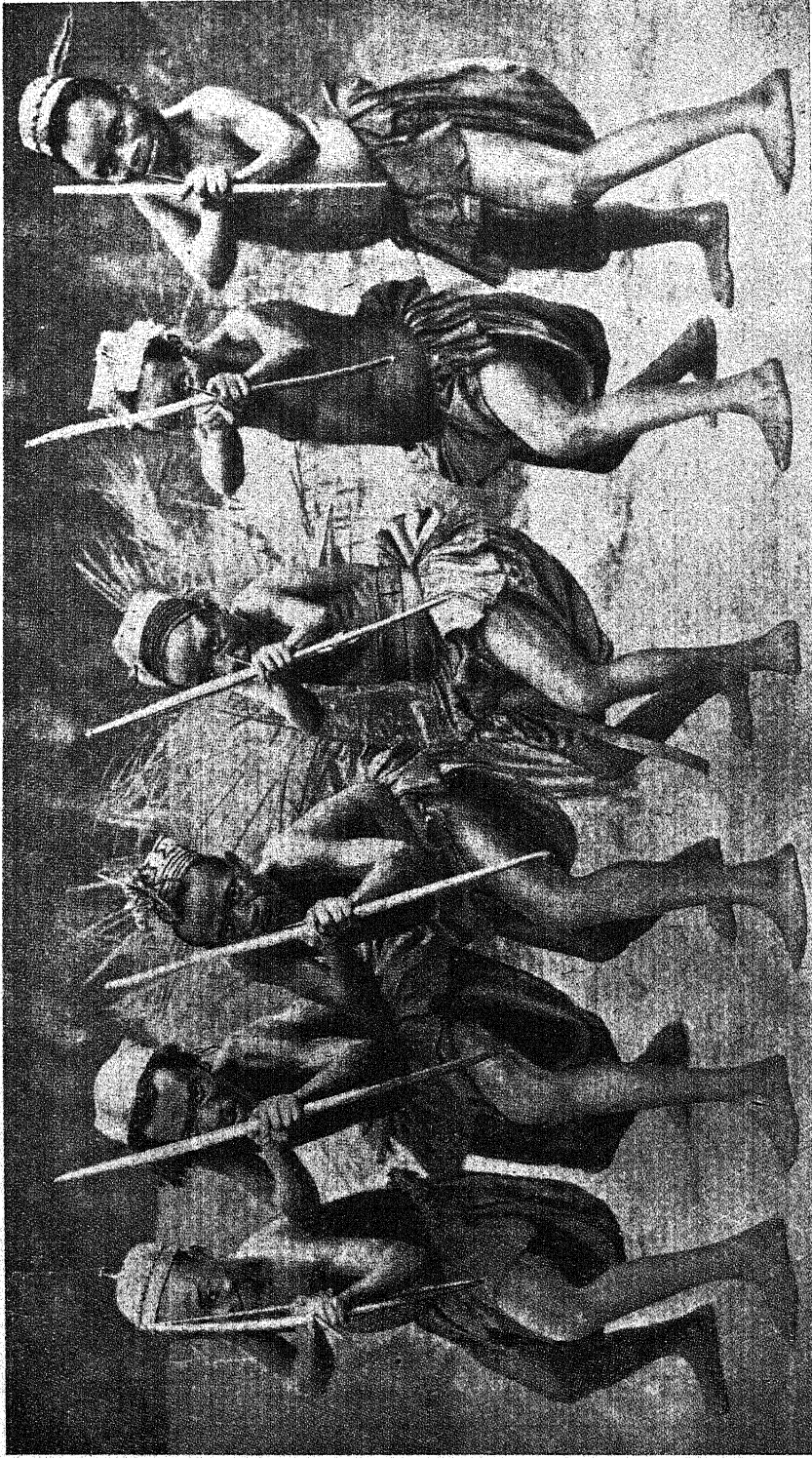
पिगमी तीरन्दाज़

भारतवर्ष के जंगली भीलों की तरह मध्य अफ्रीका के ईतूरी-वन के ये बौने भी तीर-कमान धारण करते हैं और ताक कर निशाना मारते हैं। ये प्राय: अपने तीरों की नोक को एक प्रकार के विष में बुझा लेते हैं, जिसके कारण शिकार की मृत्यु निश्चित हो जाती है। यह विष ये लोग एक जंगली पेड़ की छाल से निकालते हैं। तीर इनके जीवन-संग्राम का प्रधान शस्त्र है, फिर भी ये लोग इतने अधिक पिछड़े हुए हैं कि स्वयं इसको नहीं बना पाते। इसके लिए ये अपने पड़ौसी निग्रो लोगों पर निर्भर करते हैं। (यह चित्र 'अमेरिकन म्यूज़ियम ऑफ़ नेचरल हिस्ट्री' के एक चित्र का फ़ोटो है।)

मध्य अफ्रीका के पिगमी और उनका देश

पिछले लेख में हमने सभ्यता से परे की दुनिया पर दृष्टिपात करते हुए अफ्रीका के दानाकील प्रदेश के निवासियों का वर्णन किया था। इस लेख में उन्हीं की श्रेणी की, अथवा उनसे भी अधिक जंगली, अफ्रीका की एक और जाति पिगमियों का हाल सुनाने जा रहे हैं। ये बौने दुनिया में अपने ढंग के एक ही जीव हैं, और एक दृष्टि से सबसे अद्भुत भी।

पिगमियों का संसार सदा से सभ्य जगत् को आश्चर्य में रखता आया है। पशु से मनुष्य की श्रेणी में अभी-अभी आये लोगों में आज भी उनकी गिनती होती है। पिछले हज़ारों वर्षों में संसार ने चाहे जितना भी पलटा खाया हो, इनका जीवन रत्ती भर भी नहीं बदला है। इसीलिए इन्हें देखकर हमें आज भी आश्चर्य होता है।

इनका निवास-स्थान आरम्भ से ही ईतूरी-वन रहता चला आया है। यह वन आज भी बेल्जियन कांगो की प्रसिद्ध नदी कांगो की एक शाखा ईतूरी के दोनों किनारे घने जंगल के रूप में वर्तमान है। यहाँ के निवासियों के साथ-ही-साथ यह वन-प्रदेश भी संसार के आश्चर्यमय भागों में से एक है।

ईतूरी नदी ही अपनी अनगिनित शाखाओं के साथ इस प्रदेश को सींचती है। इसकी मुख्य धारा सदा विकराल रूप धारण किये गरजती रहती है। बहुत घने जंगल में छिपे रहने पर भी इसकी गर्जन दूर से सुनाई पड़ती है। इसकी गिनती संसार की महा-भयंकर नदियों में है। यह नदी आज तक न मालूम कितनी हज़ार नौकाएँ और मनुष्य निगल चुकी है। इसके किनारे के निवासी नाव पर बैठकर इसे पार करने का साहस नहीं करते।

किनारे के वन में अनवरत टिप-टिप, कल-कल, हरहर ध्वनि सुनाई देती है। इसका कारण यह है कि यहाँ धाराओं, झरनों और जल-प्रपातों की प्रचुरता है। वर्षा की भी कमी नहीं। जनवरी-फ़रवरी के महीनों को छोड़कर साल भर प्रायः नित्य ही वर्षा होती है। इसलिए धाराओं और नदियों के कूल हमेशा भरे रहते हैं; किनारे हमेशा ही उबलते रहते हैं; नदियाँ वृक्षों को बहाये चलती हैं। सारे प्रदेश का रूप सदा भयावना बना रहता है।
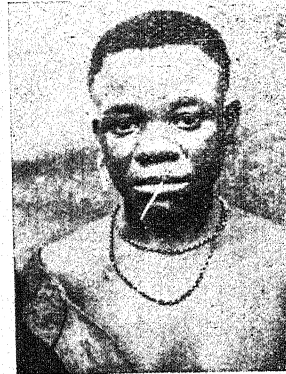
यह प्रदेश विषुवत्-रेखा के बिलकुल पास है। इसलिए यहाँ धूप भी कटावनी निकलती है। लेकिन घने साया-दार सदाबहार वृक्षों की छाया और चारों ओर प्रपात, धारा, नदी आदि के होने के कारण ठंढक बनी रहती है। ज़मीन अवश्य ही सब जगह सिमसिम और कहीं-कहीं दलदल-जैसी रहती

पिगमी पुरुष और स्त्री

(बाईं ओर) इस पिगमी नौजवान के जंगली जानवर जैसे दाँत प्रकृति की देन नहीं हैं, वरन् स्वयं इसी के द्वारा नुकीले बनाये गये हैं। और यह पिग-मियों में बड़ी शोभा की वस्तु समझी जाती है। (दाहिनी ओर) पिगमी स्त्रियाँ प्रायः इसी तरह अपने ओठों में हड्डी या हाथी-दाँत की सलाई छेदकर लगाती हैं।

है। यह हालत हमेशा बनी रहती है, क्योंकि वैसे घने वृक्षों की छाया को छेदकर पार करना सूर्य की किरणों के लिए कठिन होता है। कई दृष्टियों से यह प्रदेश इतना भयंकर है कि बाहरी संसार के विरले ही लोग यहाँ पाँव रखते हैं। इस विशाल वन-प्रदेश की शांति आज तक कोई भी सभ्यता भंग नहीं कर पायी है।

इस प्रदेश को ही देखकर अन्दाज़ा लग जाता है कि वहाँ जो कोई भी बसता होगा उसे हमेशा अपने चारों तरफ़ के जंगल से संग्राम करते रहना पड़ता होगा। वह हमेशा ही भयभीत रहता होगा। उसका रोटी का प्रश्न भी अत्यन्त जटिल होगा—उसे हल करने में ही उसे अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ती होगी। इतना करने पर भी इसमें उसे सफलता मिलती होगी या नहीं, इसमें संदेह रहेगा। वन की भयावह विशालता अवश्य ही उन प्राणियों को बौना बनाकर रखती होगी। इस वातावरण के कारण उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास दोनों का ही क्षेत्र बहुत परिमित रहता होगा।

इस प्रदेश में जाने पर ये सभी बातें यथार्थ साबित होती हैं। मनुष्य इस वन-प्रदेश में मीलों निकल जाता है, पर उसे एक भी आदमी दिखाई नहीं देता। वह इस प्रदेश को निर्जन करार देने लगता है। पर नहीं; कहीं-कहीं आदमियों के छोटे-छोटे पाँव के चिह्न ज़मीन पर उभड़े दिखाई देते हैं! इतना अवश्य है कि ये चिह्न हमें हमारे आम रास्ते से बहुत दूर-दूर पर मिलेंगे। यदि हम इन पद-चिह्नों के पीछे-पीछे चलें तो अत्यन्त ही घने वृक्ष और झाड़ियों के बीच जा पहुँचेंगे। वहाँ पर हमारे पाँवों की ज़रा-सी भी आहट हुई नहीं कि किसी के बिजली की तरह लोप हो जाने की आहट हमें मिलेगी! बड़े परिश्रम के बाद हमें पता लगता है कि एकाएक विलुप्त हो जानेवाला यह अद्भुत जीव कौन था। पर जब पहलेपहल हमारी दृष्टि उसके ऊपर पड़ती है तो हमें अवाक रह जाना पड़ता है!

बौना। क़द बहुत ही छोटा। बदन गठीला। गर्दन छोटी। छोटे पतले पाँवों पर अड़ा हुआ लम्बा मोटा धड़। कंधे चौड़े। बाँह अनुपात से बहुत अधिक लंबी, लेकिन हथेली और तलवे बौनों के उपयुक्त। अंगों का सारा अनुपात ही एक अजीब गोल-माल सा। दाढ़ी रहने के कारण शक्ल बहुत-कुछ जानवरों-सी। शरीर का रंग पीली मिट्टी के समान। हमारी दृष्टि में बड़े ही बदसूरत!

ईतूरी वन के तीन बौने निवासी

मानव-विज्ञान के आचार्यों का कथन है कि ये पिगमी आदिम मनुष्यों की एक अत्यंत प्राचीन शाखा के वंशज हैं जो आज से लाखों वर्ष पूर्व मनुष्य के आदिम पुरखों के मुख्य समुदाय से बिछुड़कर अफ्रीका के घने गर्म जंगलों में आ बसी थी।

हम उन्हें और भी ध्यान से देखने की कोशिश करते हैं, लेकिन नुकीले दाँत देखकर सहम जाते हैं। दाँत काटकर या किसी चीज़ से घिसकर अत्यन्त ही नुकीले बना लिये गए हैं। उनमें सुई-सी नोक हो गयी है। वे इन्हें हमें अपने अंग के सबसे सुन्दर हिस्से के समान दिखाते हैं। पर हमें ये भद्दे जँचते हैं। अब हमारी दृष्टि उनकी वेष-भूषा पर जाती है।

पोशाक वृक्षों की खाल की। डोरी के स्थान पर चमड़ा। गहने लकड़ी के। कलाई में साँप की चितकबरी खाल लपेटे। शरीर पर काले कोयले से की गयी मोटी भद्दी चित्रकारी। कहीं-कहीं लाल स्याही के भी चिह्न।

हमें यह अजीब शक्ल देखकर आश्चर्य होता है। हम इसे दुनिया की अपने ढंग की एक ही 'क़िस्म' मानते हैं। सोचते हैं कि इनकी जाति के और दूसरे जीव शायद ऐसे भयंकर न हों। पर हमारा अनुमान ग़लत निकलता है। आगे भी जो मिलते हैं वे भी पहले से बहुत अधिक मिलते-जुलते होते हैं। मोटी-मोटी विशेषताएँ सबमें एक ही होती हैं। उनके पह-

चानने में भूल होने की गुंजायश नहीं रहती। मापने पर मर्दों की औसत ऊँचाई चार फ़ीट आठ इंच और औरतों की चार फ़ीट चार इंच निकलती है। औरतें हमें और भी अधिक हतोत्साहित करती हैं। अपने ऊपर के होंठ में वे मोटा छेद किए रहती हैं, जिसमें हाथी-दाँत की बनी छोटी पेन्सिल के आकार की एक लम्बी-सी चीज़ खुँसी रहती है। हम लोगों की दृष्टि में वे बदसूरती की साक्षात् मूर्ति साबित होती हैं।

इन्हें देखकर निग्रो भी कह उठते हैं:—

"ये तो जंगली जन्तु हैं! बन-मानुषों की जाति के।"

किन्तु ये निग्रो भूल जाते हैं कि उन्हें देखकर भी तो बहुत से लोग, जो अधिक सभ्य होने का दावा करते हैं, ठीक ये ही बातें कहते हैं! पर हमें देखना है कि वास्तविक बात क्या है।

यह हम कदापि नहीं कह सकते कि पिगमी 'पशु-मनुष्य' हैं, अर्थात् उनमें पशु-भावनाओं के सिवा और कुछ है ही नहीं। वे अवश्य ही निग्रो से भिन्न श्रेणी के हैं; सभ्यता के विकास की दौड़ में ये निग्रो लोगों से भी बहुत पीछे रह गये हैं, पर इसीसे हम उन्हें पशु की श्रेणी में नहीं गिन सकते। इनके सभ्यता की दुनिया से परे होते हुए भी हम इनमें मनुष्य की विशेषताएँ पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। ये कभी एक दूसरे का खाना नहीं छीनते। आपस में एक दूसरे की मदद करते हैं। परस्पर कुछ हद तक प्रेम और दया का भाव भी रखते हैं। ये गहरे पारिवारिक, यहाँ तक कि एक तरह के संघ के बंधन में रहते हैं। पिता-माता, भाई-बहन का प्रेम हमारी ही तरह इनमें भी वर्तमान है। ये बातें साबित करती हैं कि हमसे भिन्न होते हुए भी ये आखिर हैं मनुष्य ही।

एक पिगमी युवती

बदसूरती की ये साक्षात् मूर्ति होती हैं!

और अधिक खोज करें तो हम पायँगे कि ये भी आदमियों की तरह की अक़्ल कुछ हद तक रखते हैं। जंगल की पैदावार आसानी से और पर्याप्त मात्रा में बटोर पाने के लिए उन्होंने हथियार बनाये। इस तरह के शस्त्रों की भी इन्होंने ईजाद की, जिनसे दूर से ही शिकार मारे जा सकते हैं। ये अपने छोटे-छोटे तीरों की नोक पर विष का भी प्रयोग करते हैं, जिनसे बड़े-बड़े जानवर आसानी से मारे जा सकें। इन बातों के सिवा ये आग का भी उपयोग जानते हैं, जिसका इन्हें उचित गर्व रहता है। ये उसकी सहायता से अपना शिकार, फल, सब्ज़ी आदि अधिक पाचक और स्वादिष्ट बना लेते हैं। अपनी ये विशेषतायें पिगमी जानते हैं, इसीलिए जब उन्हें कोई 'बन-मानुष' कह बैठता है तो वे चिढ़ते हैं और यह दलील देते हैं—"बन-मानुष तो आग का व्यवहार नहीं जानता, फिर वह हमारी बराबरी कैसे कर सकता है? हम आग का व्यवहार जानते हैं, इसलिए हम उनसे ऊँचे हैं।"

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि ये मनुष्य हैं, तो फिर आज भी हज़ारों वर्ष पहले की ही भाँति क्यों हैं? इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें इनके प्रदेश की भौगोलिक परिस्थिति, इनके वातावरण, प्रकृति के विरुद्ध संग्राम करने का इनका ढंग और इन्हें प्राप्य हथियार—एक शब्द में, इनकी पूरी वस्तुस्थिति का खयाल रखना पड़ेगा। हम अपने से तुलना करते समय इनमें विशेष अंतर इनके आर्थिक विकास में ही पाते हैं और उसी के पैमाने के आधार पर उन्हें पिछड़ा हुआ कहने का साहस करते हैं। इसीलिए हमें यहाँ यह नहीं भूलना होगा कि सभ्यता से परे आदमियों का आर्थिक विकास, जिस परिस्थिति में वे रहते हैं मुख्यतः उसी पर निर्भर करता है।

आइए, पिगमियों की वस्तुस्थिति पर एक दृष्टि डालें। यहाँ हम सबसे पहली बात देखेंगे कि जिस तरह के विरोधी प्राकृतिक वायुमण्डल में उनका जन्म होता है, उसमें जीवित रह पाने की ही समस्या उनके लिए सबसे बड़ी समस्या हो जाती है। उन्हें अपने को जीवित रखने के लिए अनवरत संग्राम करते रहना पड़ता है। हज़ारों वर्ष से पिगमी खानाबदोश का जीवन व्यतीत करते चले आये हैं। क्षुधा-निवृत्ति के लिए ये परिवार के आकार के छोटे-छोटे दल बाँधकर सदैव अफ़्रीका के इन भयानक विशाल जंगलों में भटकते रहे हैं। इनका दल इतना छोटा रहा कि वह अपने पुराने ढंग के हथियारों की सहायता से जंगल को काबू में नहीं ला सका, इन्हें उस वन की विशालता के सामने हमेशा सिर झुकाना पड़ा। इस विशेष प्रदेश में भोजन की कमी रहने के कारण इन्हें हमेशा फल, सब्ज़ी और शिकार की तलाश में भटकते रहना पड़ा; उसी में उन्हें अपना जीवन बिता देने

के लिए बाध्य होना पड़ा। क्षुधा ने इनके जीवन को इस प्रकार अस्थिर बनाये रखा कि इन्हें कभी भी और कामों के लिए फ़ुरसत नहीं मिली। आज भी हम देखते हैं कि भोजन या जीवन के उपयोग की अन्य कोई भी वस्तु जमा करके रखने का ढर्रा इनके यहाँ चल नहीं सकता। यदि एक दिन की मेहनत से लाया गया भोजन दूसरे एक और दिन के लिए चल जाय तो वही बहुत हुआ। इसी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि इस प्रदेश में भोजन जुटाना कितना कठिन है, इसके लिए कितना परिश्रम, कितना ख़तरा उठाते रहने की ज़रूरत पड़ती होगी!

इसी भोजन जुटाने के महान् संग्राम ने पिगमियों को एक विशेष प्रकार के साँचे में ढाल दिया है। इसी ने उनके ऊपर ऐसी गहरी छाप लगा दी है कि वे अपने जीवन के परिवर्तन की संभावना की बात सोच ही नहीं सकते। उनका घूमना उनके लिए गत हज़ारों वर्षों में इतना स्वाभाविक, जीवन के लिए इतना आवश्यक बन गया है कि अब वे इसके बिना जी नहीं सकते। वे स्थिर जीवन बिताने की बात सोच ही नहीं सकते। इसीलिए उनकी जो बस्तियाँ हैं, उनके नाम तक भी स्थायी नहीं रहते। बस्तियों का नामकरण वे अपने दल के मुखिये के नाम पर किया करते हैं। इसी कारण जब वह मुखिया चला जाता है और दूसरा उस गाँव में आता है तो उस गाँव का नाम बदल जाता है।

दो पिगमी बूढ़े

अधिक से अधिक साढ़े चार फ़ीट क़द के इन बौनों की भावभङ्गी से बन्दरों-जैसा एक अजीब भय-मिश्रित मसख़रेपन का भाव टपकता है। बुढ़ापे में तो इनके चेहरों पर यह भाव और भी स्पष्ट हो जाता है।

बाहर के जितने भी धक्के आये, पिगमियों को परिवर्तित करने में समर्थ नहीं हुए। ये धक्के विशेष कर निग्रो लोगों की ओर से आये। वे ही पिछली कई शताब्दियों में ऐसे रहे हैं, जिन्होंने इक्के-दुक्के ईतूरी-वन में प्रवेश किया है और उसमें वे स्थान-स्थान पर बस गये हैं। कई मामलों में ये पिगमियों से अधिक आगे बढ़े हुए अवश्य हैं, फिर भी वे अपने जीवन के ढर्रे पर पिगमियों के जीवन को लाने में समर्थ नहीं हुए हैं। पिगमियों के जीवन का भली भाँति निरीक्षण कर हम इस बात की यथार्थता की जाँच कर सकते हैं।

और आदमियों की तरह पिगमियों के लिए भी आग बहुत आवश्यक है। वे इसका व्यवहार भी करते हैं, पर उसे नये सिरे से जलाना उन्होंने अब तक नहीं सीखा है। इनमें अब भी बहुतेरे ऐसे हैं जो अपने घरों में आग बुझने नहीं देते; क्योंकि बुझ जाने पर उन्हें उसे दूर की बस्ती से लाने जाना पड़ेगा। निग्रो पत्थर और काठ घिसकर जिस तरह चिनगारी निकालते हैं, वह तरीक़ा पिगमियों ने हज़ारों वर्षों में भी नहीं सीखा। पिगमियों के इस प्रकार की मानसिक अवस्था का ख़ास कारण यह मालूम होता है कि जिस विशाल जंगल में ये शुरू से ही घिरे आ रहे हैं, उसने बहुत हद तक अपने को इनके सामने अजेय साबित कर दिया है। उसी ने इनका स्वभाव बदलकर इस ढंग का बना दिया है कि मनुष्य अपने वायु-मंडल पर विजय पा सकता है, इस बात पर अब वे विश्वास ही नहीं कर सकते।

दूसरा उदाहरण हम इनके आहार का लें। पिगमियों के भोजन का सिर्फ़ एक-तिहाई भाग गोश्त रहता है; बाक़ी दो-तिहाई फल, शाक इत्यादि होता है। जड़, मूल, खाने-योग्य पत्ते तथा जंगली फल वन में बहुत कम जुटते हैं, इनसे पेट नहीं भरा जा सकता। इसलिए पिगमियों को मनुष्य द्वारा उपजायी गई चीज़ों की आवश्यकता पड़ती है। वे ताल के फल और ऊख खाते हैं; पर सबसे अधिक केला पसन्द करते हैं। एक तरह से केला ही उनका सुन्दर-से-सुन्दर आहार गिना जा सकता है। पर इतना होते हुए भी वे इसे उपजा नहीं पाते।

इस प्रदेश में खेती करनेवाले सिर्फ़ निग्रो ही हैं। वे ही ऊख और केला भी उपजाते हैं। इन चीज़ों के बल पर वे पिगमियों को एक तरह से ग़ुलाम बनाकर रखते हैं। निग्रो इन्हें समय-समय पर खाने के लिए ऊख और केले दिया करते हैं। इसके बदले पिगमी उनके अधीन रहते हैं। निग्रो उनसे शिकार मरवाया करते हैं और जंगली पदार्थ इकट्ठा कराते हैं। थोड़े-से केले के लिए जत्थे

के जत्थे पिगमी जीवन भर निग्रो मालिक की खिदमत में रहते हैं और उसके मरने पर उसके लड़कों की ग़ुलामी करते हैं। वे अपना शिकार, अपनी स्वतंत्रता, अपना सब कुछ केले के बदले दे डालने के लिए तैयार रहते हैं, और वास्तव में दे भी डालते हैं, लेकिन स्वयं कभी भी केला नहीं उपजाते।

शिकार पिगमियों का पेशा-सा है, फिर भी इस मामले में उन्होंने कुछ अधिक तरक्की नहीं की। अब भी इनके आखेट का ढंग हज़ारों वर्ष पहले से चला आता हुआ ही है। इसमें औरत, मर्द, बच्चे सब भाग लेते हैं और जानवर को घेरकर शिकार करते हैं। निग्रो लोगों के सम्पर्क में आने के बाद वे जाल और तीर-कमान का भी व्यवहार करने लगे हैं, पर अब भी वे स्वयं लोहे के हथियार नहीं बना पाते। इसलिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु—अपने तीर—के लिए भी वे निग्रो लोगों के ही आश्रित रहते हैं। तीर का चमत्कार देखकर पिगमी आश्चर्य करते हैं। वे उसके उपयोग का भी महत्व समझते हैं; किन्तु स्वयं उसे नहीं बनाते!

लोहे के तीर से बड़े शिकार के मारे जाने पर इन्हें आश्चर्य के साथ बेहद खुशी भी होती है। उस दिन पहले से गाँव में खबर पहुँचा दी जाती है और लोग आनन्द से उछलने लगते हैं। शिकार गाँव भर में बाँटा जाता है और खूब गाना और नाच होता है। उनके आनन्द को देखकर पता चलता है कि उस दिन मानो उन्हें कोई दुर्लभ वस्तु प्राप्त हो गयी है। सदा क्षुधा-पीड़ित लोगों के लिए बड़ा शिकार वास्तव में उत्सव मनाने का कारण बन जाता है।

पिगमी ग़ुलाम और निग्रो मालिक

जीवन-निर्वाह के लिए आहार न जुटा पाने के कारण ये पिगमी इसी प्रदेश में बसनेवाले निग्रो लोगों की उम्र भर ग़ुलामी करते हैं। उनके लिए ख़ाली स्वतंत्रता से अधिक एक केले का मूल्य है, जिसके लिए वे सब कुछ निछावर कर सकते हैं।

इस प्रदेश में क्षुधा-ज्वाला का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि लोग मौक़े-मौक़े पर आदमी का गोश्त भी खा लेते हैं। अभी कुछ वर्ष पहले का ज़िक्र है, इस इलाक़े में एक औरत को उसके डायन होने के संदेह पर मार डाला गया। पर काटने पर देखा गया कि उसके शरीर में 'डायन का विष' नहीं है। वैसे अच्छे गोश्त का नष्ट होना पिगमी नहीं देख सकते थे। इसलिए उन्होंने उसे और शिकार की ही भाँति बाँटकर खा लिया। जब निरपराध स्त्री के ख़ून का हर्जाना उसके घरवाले माँगने आये तो उन्हें केला दे दिया गया। वे भी ख़ुशी-ख़ुशी घर लौट गये!

पिगमियों में कहीं-कहीं औरतों और मर्द तक को लूट जाने और उन्हें मारकर खा डालने का रिवाज था। पर अब यह नहीं पाया जाता। भयानक ईतूरी-वन का ध्यान रखते हुए यदि वहाँ आज भी यह प्रथा पाई जाय तो आश्चर्य नहीं होगा। यहाँ सर्वदा ही दुर्भिक्ष रहता है और लोग भूख के मारे सब कुछ खा डालने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। वनमानुष का गोश्त जिसे निग्रो घृणा की दृष्टि से देखते हैं, आज भी पिगमी बड़े चाव से खाया करते हैं।

इन्हीं बातों से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि पिगमियों के रहन-सहन का तरीक़ा कितना प्राचीन होगा। इसी ईतूरी-वन में हज़ारों वर्ष पहले जब इनका आविर्भाव हुआ, उस समय जो रहने का तरीक़ा उन्होंने अपनाया वह आज भी चला आ रहा है। आज भी ये पत्तों से बनाए गए घोंसलों में रहते हैं। इनके घर में दरवाज़े नहीं होते। घर में कुछ वैसी सम्पत्ति भी नहीं होती कि जिसकी हिफ़ाज़त के लिए उसे बन्द करने की ज़रूरत पड़े। वर्षा से बचने के लिए कभी-कभी ये वृक्षों के ऊपर डाल लगा देते हैं, यही उनके लिए बहुत अक्क़ का काम हो जाता है।

कम्बल, चटाई आदि के व्यवहार की तो ये कल्पना भी नहीं कर सकते। लकड़ी के कुन्दों पर ही, आग के पास शरीर गरमाते हुए, सो जाते हैं।

अब हाल में आकर तो इनकी हालत और भी बदतर होती जा रही है। गोरे चमड़े वालों ने निग्रो लोगों को जंगलों में खदेड़ दिया है और निग्रो लोगों ने पिगमियों को और भी अधिक संकीर्ण घेरे में डाल दिया है; जहाँ उनका जीवित रहने का संग्राम और भी अधिक जटिल हो गया है। परिणामस्वरूप पिगमियों की जाति मरणप्राय होती जा रही है। हाल में लौटे कुछ अन्वेषकों की धारणा है कि अब उनकी संख्या कई गुनी घटकर सिर्फ़ बीस हज़ार ही रह गई है।

अभी कुछ समय पहले तक कुछ गोरे यूरोपियन प्रमाद-वश पिगमियों को पूरी तरह से जानवरों की गिनती में रखकर उनका शिकार तक खेलने का शौक़ रखते थे! यहाँ पर यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि पिगमी हैं तो आखिर मनुष्य ही। उनके भाव प्रकाश करने का ढंग हमसे भिन्न है, फिर भी वे मनुष्य की कोटि के हैं, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता।

पिगमियों के बर्ताव के तरीक़े हमारी तरह जटिल न होकर अब भी बड़े सीधे-सादे और स्पष्ट हैं। इसका यह मतलब नहीं कि ये चालाकी जानते ही नहीं। चालाकी से अपने शत्रु को ज़हर देकर मार डालने की कला ये जानते हैं; और मौक़े-मौक़े पर इसका ये उपयोग भी करते हैं, पर आदमी होने के नाते इतना समझते हैं कि 'जो ज़हर देकर मारता है वह खुद भी ज़हर से ही मरता है।' यह समझ इनके भीतर चाहे जिस प्रकार भी क्यों न घुसी हो, परंतु इनमें यह विवेक का भाव है अवश्य, और यही विचार ज़हर देने के रिवाज को इनमें आम तरह से प्रचलित नहीं होने देता।

पिगमियों के चेहरे पर अतिशय कठोरता और मानव-सुलभ कोमल भाव का अभाव देखकर हम उन्हें अपनी कोटि का होने में संदेह करते हैं, पर हमें उनके संग्राम को भी भूलना नहीं होगा। जीवन धारण किए रहने के निरंतर संग्राम ने ही पिगमियों को कठोर बना दिया है। पिगमियों में पुरुष कभी रोते नहीं देखे गये। तकलीफ़ें बर्दाश्त करने की उनमें अद्भुत क्षमता होती है। लेकिन इसके साथ ही हम यह भी पाते हैं कि शहद की सिर्फ़ याद भर करा देने से ही वे अँगुली चाटने लगते हैं, नमक देख भर लेने के लिए उछल पड़ते हैं और बड़ा शिकार या केला पाकर उत्सव मनाने लगते हैं!

आज हम यदि अपनी दृष्टि से उनके जीवन में परिवर्त्तन लाना चाहें, तो हमें शायद ही सफलता मिलेगी। हज़ारों वर्ष से कठोर जीवन व्यतीत करते-करते वे उसके ऐसे आदी हो गये हैं कि उसके बिना वे अब जी नहीं सकते। इसीलिए किसी पिगमी को यदि किसी बड़े गाँव में लाकर रखा जाता है, जहाँ उसके आराम की सब चीज़ें मौजूद मिलती हैं, तो भी वह वहाँ रहना नहीं पसन्द करता। पिगमी का उस गाँव में मानों दम फूलने लगता है और अपने ईतूरी-वन के घोंसले में लौट जाने के लिए वह बेचैन होने लगता है।

पिगमियों का इस प्रकार का स्वभाव देखकर हम मनुष्य के जीवन में वस्तुस्थिति के महत्त्व का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। मनुष्य जैसे प्रदेश में रहता है, जैसी परिस्थिति में रहने के लिए वह बाध्य होता है, अपने निर्वाह के लिए उसे जितना वक्त लगाना और परिश्रम करना पड़ता है, खाद्य-पदार्थों के प्राप्त करने के प्रयत्न में जिन मानसिक और शारीरिक अस्त्रों का वह उपयोग करने लगता है, वे ही सब उसका स्वभाव बनाते हैं और इन्हीं बातों के ऊपर उसका आगे का विकास भी निर्भर करने लगता है।

मानव-विज्ञान के आचार्यों का मत है कि पिगमी मानव जाति की एक बहुत पुरानी उपशाखा के प्रतिनिधि हैं। कहते हैं कि आज से कई लाख वर्ष पहले पृथ्वी पर घोर शीत छाने लगी, और अधिकांश भागों में बर्फ़-ही-बर्फ़ फैल गया। इस तरह के कई हिमयुग पृथ्वी पर आए, जिनके कारण मनुष्य के आदिम पुरखे अलग-अलग समूहों में बँटकर इधर-उधर गर्म प्रदेशों में बिखर गये। एक शाखा सुदूर ऑस्ट्रेलिया तक जा पहुँची, दूसरी उत्तर की ओर बढ़ गई। तीसरी शाखा मध्य अफ़्रीका के घने जंगलों की ओर बढ़ी, और एक बार उसकी भूलभुलैयाँ में फँस जाने पर फिर वहाँ से बाहर न निकल पाई। इसी शाखा के बचे-बचाए स्मारक आज के अफ़्रीका के पिगमी और निग्रो हैं। जिस तरह एक ही विशाल वृक्ष की अनेक शाखाओं में कोई एक शाखा निरंतर फूलती-फलती हुई ऊपर की ओर बढ़ती जाती है, और कुछ शाखाएँ तने से अलग फूटकर कुछ ही दूर फैलने के बाद ठूँठ हो जाती हैं, वही हाल पिगमियों का भी है। मानव जाति के एक ही विशाल वंश में उत्पन्न होकर भी पिगमी जाति उन्नति की दौड़ में अपनी अन्य सहोदर जातियों का साथ न दे सकी। यही कारण है कि उसकी बाढ़ रुक गई, और अब तो वह शीघ्रता से लुप्त होती जा रही है।
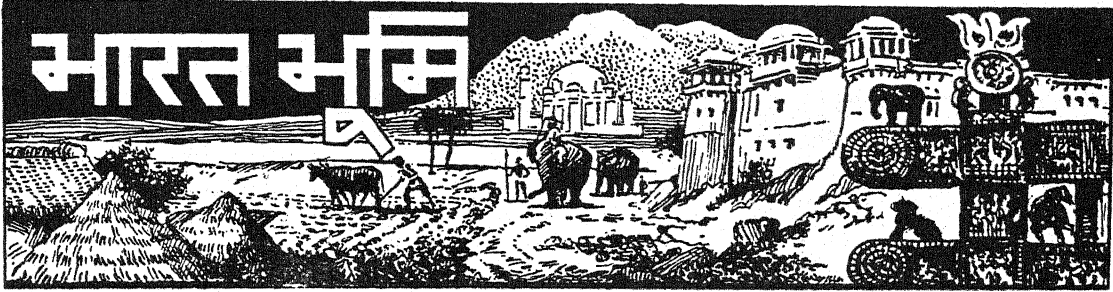
मध्य प्रान्त के गोंड़

हमने पिछले प्रकरण में भारत की वर्त्तमान आदिम जंगली जातियों की सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था का सामान्य रूप से दिग्दर्शन किया था। अब हम अलग-अलग आदिम जातियों को लेते हैं। आइए, सबसे पहले मध्य प्रान्त के गोंड़ों का ही अध्ययन करें।

मध्य प्रान्त के गोंड़ बड़े रोचक प्राणी हैं। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से, पहाड़ियों और गढ़ियों (fastnesses) के सुरक्षित प्रदेशों में रहनेवाली भारतवर्ष की दूसरी जंगली जातियों की अपेक्षा वे ज़्यादा आगे बढ़े हुए दीख पड़ते हैं। बहुत आरम्भिक काल से ही ये लोग दूसरी नस्ल के झुण्डों के सम्पर्क में आते रहे हैं, फिर भी उन्होंने अपनी सांस्कृतिक अक्षुण्णता को बहुत कुछ क़ायम रखा है। पिछले ज़माने में वे लोग जो कुछ कर गुज़रे हैं, उसका वर्णन उनके उन ग्रामीण गीतों में मिलता है, जो अब भी छत्तीसगढ़ के खेतों, खलिहानों और गोंड़ लोगों के उन गाँवों में गाये जाते हैं जो कि भारतवर्ष के समूचे मध्य कटिप्रदेश भर में फैले हुए हैं। भारतवर्ष के इतिहास में मध्ययुगीन काल में इन गोंड़ों का जो पराक्रम और प्रभाव था, वह गोंड़ों के देश में आज भी बहुत-सी जगहों में पाया जाता है; क्योंकि अब भी इन स्थानों में बहुत-सी छोटी-छोटी ऐसी रियासतें हैं, जिनमें गोंड़ वंश के परिवार राज्य करते हैं। नीचे की पंक्तियों में छत्तीसगढ़ के साथ गोंड़ों के सम्बन्ध का और उनके चरित्र का वर्णन मिलता है, यद्यपि मेरी राय में इस वर्णन में अतिशयोक्ति से अधिक काम लिया गया हैः—

वह है छत्तीसगढ़ी देश,
जहाँ गोंड़ है नरेश।
नीचे कुर्सी ऊपर खाट,
लगा है चोंगी का ठाट,
पहिले जूता पीछे बात,
तब आवै छत्तीसगढ़ी हात।

गोंड़ों की सांस्कृतिक अवस्था में निस्सन्देह कुछ परिवर्त्तन हुए हैं। इसका मुख्य कारण जिन प्रदेशों में गोंड़ रहते हैं, स्वयं उनमें आर्थिक परिवर्त्तनों का होना है। जीवन के प्रति अब उनका वही पुराना भाव नहीं रहा है और बहुत-से स्थानों में उन्होंने अपने को नयी अवस्था के अनुकूल बना लिया है। मनुष्य की बलि देने की प्रथा अब उनमें लुप्त हो गयी है; लेकिन खाद्य-सामग्री की पूर्ति पर नियंत्रण पाने के अपने तरीक़ों की रक्षा के चिन्तावश अब भी वे अपनी रक्षा और पैदावार को बढ़ानेवाली एक जादू-टोनों की प्रणाली का कठोर पालन करने के लिए विवश हैं। यह सच है कि जादू-टोनों की इन विधियों (rites) की उपयोगिता में लोगों का विश्वास कम होता जा रहा है, लेकिन जहाँ तक सम्पत्ति की रक्षा सम्बन्धी परंपरागत आचरण और नियम-पालन का सम्बन्ध है, उनमें विश्वास की इस कमी के कारण कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है। जब वे लोग कोई नया घर बनाते हैं, अग्निकोप से उसकी रक्षा करने तथा उस घर में रहनेवालों को अन्य संकटों से बचाने का उपाय पहले किया जाता है। इस सम्बन्ध में इन लोगों में भूत-प्रेतों के नाम पर किसी सुअर या पक्षी की बलि देने का रिवाज प्रचलित है और बलि के जीव का रक्त मकान के लिए चुने गये स्थान पर छिड़का जाता है। फ़सल कटने पर जब अनाज घर को लाया जाता है, या खेती का मौसिम शुरू होने पर जब पहलेपहल खेतों में बीज बोया जाता है, उस समय भी अलग-अलग परिवारों की ओर से मिलकर भूत-प्रेतों को भेंट चढ़ायी जाती है। साथ ही जादू-टोना,

बुरी नज़र, बददुआ और भूत-प्रेतों के कुप्रभाव के निवारण के लिए समूचे गाँव की ओर से मिलकर भी बलि दी जाती है। पैदावार को बढ़ानेवाली तांत्रिक विधियों की उपयोगिता में भी वे लोग विश्वास करते हैं। अपने खेतों की उपज की वृद्धि के लिए वे मानव रक्त की भेंट चढ़ाते हैं। उनका विश्वास है कि अगर मनुष्य की रक्तवाहिनी शिरा को छेदकर ताज़ा लहू खेत में खास इसी काम के लिए बनाये हुए गड्ढे में डाला जाय, तो इससे शिकार पर निर्वाह करनेवाले लोगों को शिकार के जानवर बहुतायत से मिलते हैं और साथ ही उनकी खूराक के दूसरे मुख्य साधन खेती की पैदावार भी बढ़ती है। ये लोग जादू-टोने में बड़ा विश्वास करते हैं और ऐसे जादूगरों और ऐन्द्रजालिकों की तो इनमें भरमार है, जिनके बारे में यह समझा जाता है कि वे लोगों पर मंत्र द्वारा प्रभाव डाल सकते हैं। अपने को खतरे में डाले बिना जब कभी भी गोंड़ों को कोई मौक़ा हाथ लगता है, वे इन जादूगरों और डाइनों को जान से मारकर उनसे बदला चुकाते हैं। इस प्रकार की हत्या करनेवाले को गाँव भर की सहानुभूति और सहायता प्राप्त होती है और गाँववाले अक्सर इस काम में उसका साथ देते हैं। कुछ दिनों पहले तक गोंड़ लोगों में विवाह के लिए कन्याओं का अपहरण करने की भी प्रथा थी; लड़कियों को घर से भगा लाना उनके यहाँ शादी का आम दस्तूर था। पर अब सरकार ने इस प्रथा को क़ानूनन जुर्म क़रार दे दिया है और इस क़ानून का उल्लङ्घन करनेवालों को कड़ी-से-कड़ी सज़ायें दी जाती हैं। लेकिन चूँकि गोंड़ अब भी इस प्रथा की उपयोगिता में विश्वास करते हैं, अतएव उन्होंने क़ानून के पाश से बचने का

मध्य प्रांत में रियासत के ओरछा नामक स्थान की माड़िया गोंड़ जाति की कुछ युवतियाँ

उपाय निकाल लिया है। अब उनमें वर और कन्या के बीच पहले ही ठहराव हो जाता है और भगाकर लाने की बात महज़ रस्म-अदायगी के तौर पर पूरी कर दी जाती है। ज़िन्दगी की दूसरी बहुत-सी बातों में भी उनके कामकाज पर अब काफ़ी बंदिशें लग गई हैं। उन्हें अब पहले की तरह खेती की जगह को बराबर बदलते हुए खेती करने की इजाज़त नहीं है। पहले इन जंगली लोगों की आदत थी कि वे दरख्तों को काटकर उन्हें जला डालते थे और ज़मीन को जोतने के बजाय इन्हीं जले हुए पेड़ों की राख में ही बीज बो देते थे। इस प्रथा से तंग आकर बहुत-से भागों में जंगलों की हिफ़ाज़त के लिए सरकार को बहुत कड़े क़ानून जारी करने पड़े और खेती के इस बड़े खर्चीले तरीक़े को एकदम बन्द करा देना पड़ा। पर मध्यप्रान्त के भीतरी भागों में और वहाँ की देशी रियासतों में इस तरह की खेती का रिवाज अब भी बहुत पाया जाता है। बहुत-सी आदिम जातियों के लोगों में यह लाज़िमी है कि देवताओं और भूत-प्रेतों को भेंट चढ़ाते वक्त स्वयं अपने परिवार द्वारा भपके से तैयार की हुई शराब चढ़ाई जाय। इधर आबकारी के जो क़ानून जारी किये गये हैं, उन्होंने इस तरह शराब तैयार करने की रीति पर रोक लगाकर इन लोगों को कठिनाई में डाल दिया है। परन्तु ये अब लाइसेंसशुदा दूकानों से मदिरा खरीदकर देवताओं को चढ़ाने लगे हैं; यद्यपि अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो अगले ज़माने के अपने पूर्वजों की तरह घर पर ही चुपके से मदिरा तैयार करके देवताओं को चढ़ाते हैं।

गोंड़ लोग अनेक 'जनों' या जातियों (tribes) और उपजातियों में बँटे हुए हैं। इनमें से प्रत्येक जाति या 'जन' के तो

अलग-अलग नाम हैं ही, साथ ही इन जातियों में भी छोटी-छोटी शाखाएँ हो गई हैं और वे बहुत-से क़बीलों में बँट गई हैं। इन क़बीलों के आदमी अपने गिरोह में शादी न करके उसके बाहर शादी करते हैं।

जशपुर (मध्यप्रदेश का एक स्थान) के गोंड़ ६ श्रेणियों में बँटे हैं—(१) महाराज गोंड़ (ये शासक परिवारों के वंशज हैं); (२) राजगोंड़ (ये लोग शासकों के सरदार या दीवान थे); (३) पचासी गोंड़ (ये लोग महाराज गोंड़ों के अनुगामी थे); (४) बादी गोंड़ (ये लोग मिश्रित श्रेणियों के माता-पिता की सन्तान हैं); (५) थूकेल गोंड़ (ये लोग लड़ाई में हटा दिये गये थे और ऊँची श्रेणी के गोंड़ इनके नाम पर थूकते हैं) और (६) ढोकर गोंड़ (इन लोगों ने लड़ाई में हार जाने पर शत्रुओं से क्षमा माँग ली थी)।

मँडला के गोंड़ चार क़बीलों में बँटे हुए हैं—(१) झलरिया, जो अपने बाल नहीं कटवाते, (२) पूरबिया,

डंडामी माड़िया जाति की दो युवतियाँ

बस्तर रियासत के नारायनपुर गाँव के मुड़िया गोंड़ों के एक गोतुल का सरदार या 'सलाऊ'

जो शहरी हल्कों में रहते हैं, (३) सूर्यवंशी, जो गाय या मुर्गी का मांस नहीं खाते, और (४) रावणवंशी, जो गाय और मुर्गी दोनों का मांस खाते हैं।

गोंड़ लोग ऐसे भी बहुत-से क़बीलों में बँटे हुए हैं, जिनका नाम किसी पशु, पौधे या किसी दूसरे भौतिक पदार्थ के नाम पर रखा गया है। इनमें से हर क़बीले का सदस्य अपनी शादी क़बीले के भीतर न करके क़बीले के बाहर ही करता है। जिस पशु या पौधे के नाम से क़बीला पुकारा जाता है, उसे खाना, मारना या किसी तरह की चोट पहुँचाना क़बीलोंवालों के लिए मना है। उदाहरण के लिए, 'मारपची' (कछुआ) क़बीले के लोग कछुए को नहीं खायेंगे; 'गोह' क़बीले के लोग गोह को नहीं मारेंगे, और 'काना' (एक प्रकार की पूँछदार मछली) क़बीले के लोग मछली को नहीं खायेंगे। 'बाघ' क़बीले के लोग सभी बाघों को अपना बन्धु-बान्धव समझते हैं और जब कभी किसी बाघ से उनकी भेंट हो जाती है, तो वे अपने मिट्टी के

बरतनों में से एक उसके आगे फेंक देते हैं और उस रोज़ एक वक्त का उपवास रखते हैं। इसी तरह सर्प क़बीले के लोग सर्प को नहीं मारेंगे और बाज़ क़बीले के लोग चिड़ियों के शिकार में बाज़ का उपयोग नहीं करेंगे।

गोंड़ों में विवाह आजकल एक बहुत सरल रस्म हो गई है। हिन्दुओं के सम्पर्क में आकर वे लोग भी विवाह की धार्मिक पवित्रता को मानने लगे हैं और बहुतेरे गोंड़ शादी की रस्म को पूरी कराने के लिए ब्राह्मण को बुला लेना भी पसन्द करते हैं। किन्तु भीतरी प्रदेश में, ख़ासकर अधिक जंगली लोगों में, विवाह अब भी (व्यक्ति का नहीं बल्कि) जाति का कार्य माना जाता है। वर और कन्या के परिवारों पर शादी की ज़्यादा ज़िम्मेदारी नहीं रहती; विवाह द्वारा जिन दो गाँवों के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है, उन्हीं का यह कर्त्तव्य समझा जाता है कि वे देखें कि विवाह की परम्परागत विधियाँ सम्पन्न हुईं या नहीं। इस जातीय समारोह का ख़र्च भी गाँववालों ही को बर्दाश्त करना पड़ता है। वर और कन्या के माता-पिता को विवाह में अपने-अपने गाँव के निवासियों से आर्थिक तथा दूसरे प्रकार की पूरी सहायता प्राप्त होती है। कई दिनों तक गाँव के परिवार अपना-अपना खाना अलग न पकाकर एक ही सामूहिक चौके में ही भोजन करते हैं। विवाह में वर के माता-पिता को कन्या का मूल्य चुकाना होता है। जब वर-पक्ष के लोग कन्या के गाँव में पहले ही से तय किये हुए कन्याधन और उपहार की दूसरी चीज़ें—जिनमें ज़िन्दा और मुर्दा सुअर, शराब, लड़की और उसकी माँ के लिए कपड़े, धान, गहने वग़ैरह शामिल रहते हैं—लेकर आते हैं तो कन्या-पक्षवालों द्वारा भद्दी गालियों द्वारा उनका स्वागत किया जाता है। इस रस्म की अदायगी में दोनों पक्ष के मुखिया अश्लील फूहड़ भाषा के प्रयोग में एक दूसरे से बाज़ी लेने की कोशिश करते हैं। इस शत्रुभाव के प्रदर्शन के बाद दोनों पक्षों के लोग एक दूसरे का बड़े सौहार्द के साथ स्वागत करते हैं। वधू-पक्ष के लोग, अपने जंगली तरीक़े से जो कुछ भी वे कर सकते हैं उसके अनुसार, वर-पक्ष के लोगों के लिए नाना प्रकार के मनोरंजन के साधन जुटाते हैं। तब वर और वधू एक दूसरे की बाँह पकड़े लोगों के सामने लाये जाते हैं और जनसमूह की प्रशंसा-ध्वनि के बीच विधिवत् उनका विवाह होता है। इसके पश्चात् वधू का पिता दम्पति को उनके पारस्परिक कर्त्तव्य, सहनशीलता, परिस्थिति के अनुकूल अपने को बना लेने की आवश्यकता तथा सामने आने वाली भावी कठिनाइयों आदि के सम्बन्ध में बहुमूल्य परामर्श देता है। वह ग्रामवासियों से भी दम्पति के साथ सहयोग करने की याचना करता है, ताकि दम्पति अपना विवाहित जीवन सफलता-पूर्वक निभा सकें। इस भाषण के उपरान्त वर और वधू को वर के घर एक जुलूस बनाकर बाजे की ताल पर नाचते-गाते लिवाया जाता है। वहाँ वे उस झोपड़े के सामने पहुँचाये जाते हैं, जहाँ दम्पति को अपना विवाहित जीवन व्यतीत करना होगा। वहाँ पहुँचकर उनसे झोपड़े के दरवाज़े की ओर मुँह करके खड़ा रहने को कहा जाता है। वर का मामा या और कोई बुज़ुर्ग रिश्तेदार झोपड़े की छत पर चढ़ जाता है और उस जगह से सबके सामने वह एक नये बर्तन में से

डंडामी माड़िया गोंड़ों में मृत व्यक्ति की स्मृति में लगाया जानेवाला लकड़ी का समाधि-स्तंभ या 'मेनहीर'।

दम्पति के ऊपर गन्दा पानी उँडेलता है। आस-पास खड़े आदमियों की भीड़ इस अवसर पर बड़ी प्रसन्नता दिखलाती है। इस पानी से भीगते ही दूल्हा-दुलहिन सामने की सूनी कोठरी में भाग जाते हैं और कोठरी बाहर से बन्द कर दी जाती है। कुछ मिनटों का समय दम्पति को इसके लिए दिया जाता है कि अपना रात्रि का कार्यक्रम वे निश्चित कर लें। इसके बाद ज़बरदस्ती दरवाज़ा खोल दिया जाता है और दम्पति बाहर निकल आते हैं। तब स्त्री-पुरुष पृथक्-पृथक् नृत्य-दल बनाकर जब तक रात्रि का अँधियारा छाने लगता है तब तक नाचते रहते हैं। इसके बाद रात्रि के अन्धकार में स्त्री-पुरुष अपना-अपना जोड़ा बनाकर परस्पर के एकान्त संसर्ग का सुख भोगने के लिए भीड़ से अलग हो जाते हैं।

बस्तर के परजा गोंड़ों में विवाहोत्सव

सामने की पंक्ति में बैठे हुए दूल्हा-दुलहिन हैं। चित्र के बीच में लेखक और उनके एक साथी हैं। शेष वर-वधू पक्ष के स्त्री-पुरुष हैं।

मृत्यु होने पर गोंड़ लोगों में अंत्येष्टि क्रिया के रूप में शव को गाड़ने तथा जलाने दोनों की प्रथा है। बड़े लोग जलाये जाते हैं, ग़रीब गाड़ दिये जाते हैं। जब उनमें किसी बड़े आदमी की मृत्यु होती है, तो उसकी स्मृति में एक पत्थर या काठ की पटिया या काष्ठदण्ड (Menhir) समाधिस्थल पर खड़ा कर दिया जाता है, जिस पर मृत व्यक्ति की मुखाकृति चित्रित रहती है, प्रायः शव को जलाने या गाड़ने की जगह को पत्थरों से घेर दिया जाता है। सम्भवतः यह मृतात्मा को उसी घेरे में बन्द रखने के उद्देश्य से किया जाता हो। अपने मृत पूर्वजों से ये लोग इतने भयभीत रहते हैं और मृतात्माएँ जीवित व्यक्तियों को दण्ड देने के लिए आया करती हैं इस बात में उनका इतना दृढ़ विश्वास है कि इस डर के कारण वे मृतात्मा के सुख के लिए तरह-तरह के साधन जुटाने में भी कसर नहीं रखते। प्रायः वे मृत व्यक्ति के उपयोग के लिए भोजन, वस्त्र, दातून, छाता और भोजन बनाने के बर्त्तन तक भी श्मशान-भूमि पर भेंट के रूप में रख आते हैं।

अनेक प्रकार के भूत-प्रेतों के अलावा गोंड़ लोग बहुत-से देवी-देवताओं की भी पूजा करते हैं। परन्तु उनका झुकाव भूत-प्रेतों की तरफ़ अधिक होता है और इन अमंगलकारी अपकारक जीवों की तृप्ति के लिए इन लोगों में पूजाओं तथा बलिदानों का ताँता बँधा रहता है। चाँदा ज़िले के माड़िया (Maria) गोंड़ दूध में पकाया चावल अर्थात् खीर 'चिकटराज' नामक देवता को भेंट करते हैं, जो उन्हें उत्तम स्वास्थ्य और भरपूर पैदावार से संपन्न करता है। 'भाने धारे' नामक देवी के लिए, जो कि सब रोगों की स्वामिनी मानी जाती है, वे रात भर नृत्य करते और बकरों और मुर्गियों की बलि चढ़ाते हैं। 'उरा मरद' नामक दैत्यराज बकरों और मुर्गियों की बलि लेता है तथा 'भूमि सिरादू' नामक वर्षाधिपति बकरों और मुर्गियों की बलि के अतिरिक्त कभी-कभी सुअर की बलि भी चाहता है। बाघ आदि भयंकर जंतुओं के ख़तरे से बचने के लिए 'घुग्टेलपू' नामक देव को इसी तरह की बलि दी जाती है।

गोंड़ लोगों की मनोरंजक सामाजिक संस्थाओं में सबसे प्रधान संस्था गोतुल (Gotul) या एकान्त शयनकक्ष की संस्था है। जहाँ कहीं भी इसका अस्तित्व है, वहाँ का सारा सामाजिक जीवन ही इसी पर आश्रित है तथा उसका प्रभाव जाति और क़बीले के संगठन पर बड़ा बढ़ा-चढ़ा है। छत्तीसगढ़ तथा उसके पास की जागीरों के बहुत से गोंड़ों

के गाँवों में एक बड़ा घर होता है, जहाँ अविवाहित युवक और युवतियाँ इकट्ठे होकर रात्रि के समय नृत्य-गान करते हैं। कुछ गाँवों में ऐसे दो घर होते हैं—एक युवकों के लिए और दूसरा युवतियों के लिए। बस्तर के माड़िया और मुड़िया लोग गाँव के बाहर सोने के लिए ऐसे बारिकनुमा घर बनाते हैं, जहाँ युवक और युवतियाँ रात्रि के समय मिल-कर नृत्य-गान तथा क्रीड़ा करते हैं और अन्त में थकने पर सो जाते हैं। गोतुल प्रथा मुड़िया लोगों के कुछ गाँवों में अपनी पूर्णता को पहुँच गयी प्रतीत होती है। यहाँ उसने जाति और क़बीले के संगठन का स्थान ले लिया है। मुड़िया गोतुलों में ऐसे युवक और युवतियाँ मिलती हैं, जो एक ही गोतुल के होने पर भी एक ही क़बीले के नहीं होते और यदि युवक और युवतियों का परिचय स्थायी मित्रता में परि-णत हो जाय तो आव-श्यकता होने पर उनमें विवाह-सम्बन्ध भी हो जाता है। प्रारम्भ में गोतुल ग्राम का सामू-हिक शयनकक्ष (सोने का स्थान) था, जिसका उपयोग मुख्यतया अविवाहित युवक और अवसर आ पड़ने पर ग्राम का पुरुषवर्ग करता था। इसका पुरुषों के मनोरंजन-गृह या क्लब के रूप में भी उपयोग होता था।

मुड़िया गोंड़ जाति की युवतियों का एक समूह

इनकी वेषभूषा और अलंकारों की समानता पर गौर कीजिए। इस चित्र में ये एक उत्सव के समय नृत्य करने की तैयारी में हैं।

गोतुल के कई एक अधिकारी या अफ़सर होते हैं और उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। कभी-कभी इन अधिकारियों के नाम रियासत या ज़मींदारी के कर्मचारियों की उपाधियों के नाम पर रखे जाते हैं। बस्तर के मुड़िया लोगों के एक गाँव के गोतुल के मुख्य अधिकारियों के नाम ये हैं—सलाऊ, बैधर, सिलादार और कोतवार। 'सलाऊ' गोतुल का मुखिया या प्रधान होता है। वह गोतुल में घटने वाली सभी बातों के सम्बन्ध में जाति या ग्राम के गुरुजनों के प्रति उत्तरदायी है। नृत्य के लिए वही आज्ञा देता है, सामाजिक उत्सवों का स्थान और समय भी निर्धारित करता है और गोतुल के अन्य अधिकारियों पर नियंत्रण भी रखता है। 'बैधर' ईंधन इकट्ठा करने तथा गोतुलगुरी में झाड़ू लगाने और सफ़ाई कराने का प्रबन्ध करता है। 'सिलादार' गोतुल के सदस्यों की हाज़िरी के लिए ज़िम्मेदार होता है। उसे गोतुल के सदस्यों को गोतुल में होनेवाले प्रत्येक कार्य-क्रम के बारे में सूचित करते रहना पड़ता है। सदस्यों के व्यवहार या आचरण के विषय में सलाऊ को सूचना देना भी उसी का काम है। कोतवार नाज़िर का काम करता है और जब सलाऊ गोतुल के किसी समा-रोह के आरम्भ होने की आज्ञा जारी करता है, तो कोतवार सदस्य और सदस्याओं को बुलाता है। चलन के अनुसार सलाऊ को कुछ विशेषा-धिकार होते हैं। उदा-हरण-स्वरूप, वह किसी भी युवती से प्रेम कर सकता है और सार्व-जनिक रूप से इसकी विज्ञप्ति भी कर सकता है। वह जिस युवती को पसन्द करता है, उसे कुछ ऐसी सुवि-धायें होती हैं, जो अन्य युवतियों को नहीं होतीं। जब तक गोतुलवालों को यह पता रहता है कि सलाऊ अमुक युवती को चाहता है, तब तक गोतुल के किसी पुरुष सदस्य को उस युवती से प्रेमानुरोध या प्रणय करने का अधिकार नहीं रहता। सलाऊ को यह भी अधिकार है कि वह अपने पास जितनी चाहे उतनी युवतियाँ रखे। जब तक गोतुल का प्रधान विवाह नहीं करता, वह संस्था का एकमात्र अधिकारी बना रहता है, परन्तु विवाह के बाद एक नये सलाऊ का चुनाव होता है। यह चुनाव सर्वसम्मति से ही होता है। विवाह के बाद गोतुल के सदस्य का गोतुल में आना ठीक नहीं समझा जाता। परन्तु यदि कोई विवाहित सदस्य गोतुल में आए, तो उसे गोतुल के जीवन में प्रविष्ट होने या भाग लेने से रोकने

के लिए जाति का कोई नियम नहीं है। गोतुल का प्रधान उससे वहाँ न आने के लिए केवल अनुरोधमात्र कर सकता है, परन्तु यदि इस पर भी कोई सदस्य अपनी आदत न छोड़े, तो गोतुल का भ्रातृ-मण्डल कुछ ऐसे रूढ़िसम्मत उपायों का प्रयोग करता है, जिनसे लाचार होकर ऐसे सदस्य को अपनी आदत छोड़नी पड़ती है। सबसे पहले गोतुल का कोई सदस्य उसके घर से एक मुर्ग़ा या मुर्ग़ी चुरा लाने के लिए नियुक्त होता है। उसके बाद दूसरी, फिर तीसरी, यहाँ तक कि उसके दरबे की सभी चिड़ियाँ चुराई जाकर गोतुल के भ्रातृ-मण्डल का आहार बन जाती हैं।

अगर इससे भी उसकी आँखें नहीं खुलतीं तो उसके सुअर, भेड़ और गाय-बैल का भी यही हाल होता है। इस तरह घर की जायदाद पर जब हाथ साफ़ होने लगता है, तब स्वभावतया पति-पत्नी के बीच गृह-कलह आरम्भ हो जाता है। ऐसी हालत में या तो पति गोतुल से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है या फिर उसे जाति के न्यायालय या पंचायत के सामने पेश किये गये तलाक़ के मामले का सामना करना पड़ता है।

गोतुलगुरी में विवाहित जनों के प्रवेश का निषेध रहता है, पर उन विधवाओं तथा विधुरों के लिए ख़ास रियायत रहती है, जो गोतुल में प्रविष्ट होना चाहते हैं। ऐसे लोगों के विरुद्ध कोई प्रतिबन्ध नहीं है। बस्तर के एक गोतुल के सलाऊ ने, जो विधुर था, लेखक को अपना यह रहस्य भी बतलाया कि उसकी इच्छा वास्तव में पुनर्विवाह की नहीं थी। गोतुल की लड़कियों की सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा उनके साथियों की उम्र तथा उनके महत्त्व पर निर्भर करती है, परन्तु सलाऊ की संगिनी युवती प्रायः गोतुल की अन्य सभी लड़कियों पर काफ़ी शासन रखती है। गोतुल के किसी सदस्य का अन्य सदस्य के साथ अथवा गोतुल के किसी युवक-युवती का गोतुल से बाहर की किसी युवती या युवक के साथ विवाह-सम्बन्ध तब तक पूर्ण नहीं समझा जाता, जब तक कि विवाह के बाद दम्पति एक रात गोतुल के भ्रातृ-मण्डल के साथ न व्यतीत करें। इसी अवसर पर गोतुल विधि-पूर्वक अपने साथियों के बिछुड़ने का दुःख मनाता है और नव-विवाहित दम्पति का भक्ति-भाव गोतुल से हटकर ग्राम पर लागू होने को विधिपूर्वक स्वीकार करता है।

एक गोंड़ युवक

गोतुल के संगठन का गोंड़ लोगों के सामाजिक जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव है। यह केवल ऐसा क्लब या मनोरंजन-गृह ही नहीं है, जहाँ स्त्री-पुरुष संतानोत्पादन के लिए अपनी शक्तियों का उपयोग करने में सहयोग करते हैं, बल्कि यह वह स्थान है, जहाँ परम्परागत अनुभव द्वारा अनुमोदित रीति से जाति के आदर्श पुरुषोचित कर्त्तव्यों के सम्पादन के लिए शिक्षा दी जाती है। जहाँ-कहीं गोतुल का संगठन पाया जाता है, वहाँ अनुशासन उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग रहता है। गोतुल में छोटी उम्र के लड़के अधिक उम्र के लड़कों के अंग

एक गोंड़ युवती

दाबते, बालों में कंघी करते तथा अन्य सेवाएँ करते हैं। आचरण बनाने के लिए उनको कड़े संयम-नियम से रक्खा जाता है। जहाँ लड़के और लड़कियाँ एक ही शयनकक्ष में रहते हैं (जैसा कि बस्तर के मुड़ियों में प्रथा है), वहाँ छोटी उम्र के लड़कों का काम लड़कियाँ करती हैं। भोजन के बाद संध्या को गोतुलगुरी में प्रविष्ट होते ही उनका काम आरम्भ हो जाता है; और इनको बिना नागा हर शाम को वहाँ हाज़िरी देनी पड़ती है। वे पहले गोतुल के प्रधान को शीश नवाती हैं, फिर युवकों की सेवा में जुट जाती हैं। उनके बालों में कंघी करतीं तथा उनकी थकान मिटाने के लिए हाथ-पैर की मालिश करती हैं। तत्पश्चात् वे लड़कों के साथ बड़ी रात तक नाचती-गाती हैं। थक जाने पर अपने-अपने मित्रों के संरक्षण में वे घर को लौट जाती हैं।

शयन-कक्ष-भवन अधिकतर वनस्थली के मध्य में जंगली जातियों के बीच या गाँव से दूर—जैसा कि बस्तर में है—बना रहता है, ताकि किसी उत्सुक अन्वेषी के अतिरिक्त कोई अपरिचित व्यक्ति वहाँ न आ सके। घर को जान-बूझकर चारों तरफ़ से बन्द रक्खा जाता है। दरवाज़े के रूप में सिर्फ़ एक छोटा सूराख़ रहता है, जिसमें से आदमी रेंगकर भीतर-बाहर आ-जा सकता है। कमरे का भीतरी भाग उपयोग के समय प्रायः अँधेरे या धुएँ से भरा रहता है। बाहर से किसी को कुछ पता नहीं लग सकता। इसके अतिरिक्त शयन-कक्ष का भ्रातृमण्डल शयन-कक्ष में घटनेवाली घटनाओं के सम्बन्ध में किसी से कुछ भी न बतलाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध रहता है। प्रतिज्ञा-भंग करने पर कड़े दण्ड दिए जाने की व्यवस्था रहती है। वहाँ की बातें बतलाने का साहस करने पर लड़कियों को भी दण्ड दिया जाता है। जब तक उन्हें अपने अपराधों की क्षमा न मिल जाय, तब तक उन्हें नृत्य में भाग लेने की आज्ञा नहीं मिलती और किसी भी गोंड़ लड़की की कल्पना में यह उसके लिए सबसे बड़ा दण्ड है! यदि लड़कियों से उनके शयन-कक्ष-सम्बन्धी जीवन के विषय में प्रश्न पूछा जाय, तो वे तुरन्त सामने से हट जाती हैं। शयन-कक्ष-सम्बन्धी किसी बात को प्रकट करनेवाला सदस्य प्रायः रात के कार्य-क्रमों में शरीक़ नहीं हो सकता। इन शयन-कक्षों में पाये जानेवाले संगठन का प्रभाव जाति के जीवन पर बहुत पड़ा है और शायद यही उस स्वाभाविक अनुशासन का कारण है, जो इन आदिम जातियों के जीवन में देख पड़ता है।

[लेख के चित्र 'लखनऊ-विश्वविद्यालय' द्वारा बस्तर को भेजे गये 'एनथ्रोपोलोजिकल एक्सपीडीशन' द्वारा प्राप्त हुए हैं]
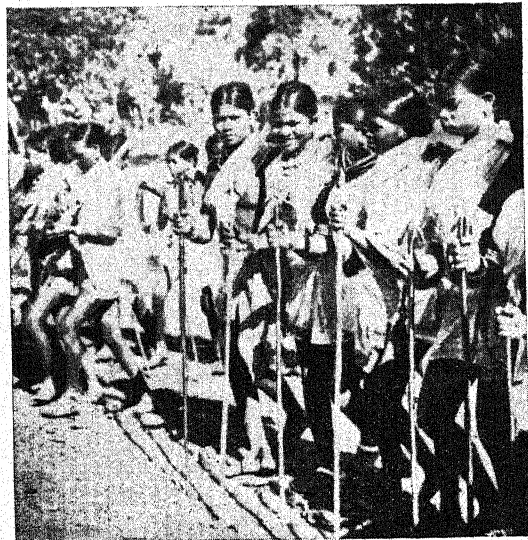
डंडामी माड़िया युवतियाँ (नृत्य करती हुईं)

चीनी महापुरुष कुङ्ग या कनफ़्यूशियस

पिछले दो प्रकरणों में हम भारत की दो अन्यतम विभूतियों के शब्दचित्र पाठकों के सामने रख चुके हैं; इस प्रकरण में एशिया के एक अन्य महापुरुष का परिचय कराने जा रहे हैं, जो चीन के एक विशाल भाग द्वारा पूजित हैं।

मानव की वेदना से अनुप्राणित जिन महापुरुषों ने उसे दूर करने की चेष्टा में अपने को खपाया है, उनमें पूर्व का यह महान् व्यक्ति—जो बचपन में 'क्यू', विद्यार्थी-जीवन में 'चुङ्ग नी' और प्रौढ़ होने पर 'कुङ्ग-फ़ू-ज़ी' के नाम से विख्यात हुआ—एक विशिष्ट स्थान रखता है। चीन से बाहर की दुनिया आज इसे पाश्चात्य लेखकों द्वारा रखे गये लैटीनी नाम 'कनफ़्यूशियस' से ही पहचानती है, किन्तु महादेश चीन पिछले ढाई हज़ार वर्षों से अपने इस महान् लोकशिक्षक को 'महात्मा कुङ्ग' ही के नाम से पूजता आ रहा है—वहाँ का साधारण व्यक्ति शायद 'कनफ़्यूशियस' शब्द से इतना ही अपरिचित होगा जितना कि एक ग्रामीण भारतीय 'इंडिया' शब्द से।

आधुनिक चीन के किनफ़ू-हियेन नामक क़स्बे का नाम कई शताब्दी पूर्व त्सिउई था। ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में एक शानदार सैनिक जीवन बिताकर वहाँ के प्रमुख मैजिस्ट्रेट हुए शू-लिङ्ग-ही। अपने एकमात्र पुत्र के मर जाने के कारण ६ पुत्रियों के पिता विधुर शू-लिङ्ग-ही ने बुढ़ापे में अपने पद के प्रभाव से एक सरदार परिवार की कन्या का पाणिग्रहण किया। इन्हीं दम्पति ने ईसा से ५५० वर्ष पूर्व शीतकाल में एक पुत्र को जन्म दिया। खुशियाँ मनीं, शादियाने बजे। पर क्या उस सुदूर अतीत की छाँह में बैठकर इस पुत्रोत्पत्ति पर खुशियाँ मनानेवालों को स्वप्न में भी यह आभास हो सका होगा कि तातारी चेहरेवाला वह नवागत शिशु मानव-जाति का एक महान् विचारक, पूर्व का एक उत्कट दार्शनिक और महादेश चीन की असंख्य पीढ़ियों का श्रद्धेय लोकशिक्षक होगा?

और इस घटना के ठीक तीन ही साल बाद वृद्ध शू-लिङ्ग-ही का देहान्त हो गया। अब नवजात शिशु की शिक्षा-दीक्षा और रक्षा का सारा भार आ पड़ा उसकी युवती विधवा माता पर। वैसे तो बच्चे की शिक्षा बहुत-कुछ माता पर ही निर्भर करती है, पर चीनियों का विश्वास इस बात में औरों से भी अधिक बढ़ा हुआ है। चीनियों की तो कहावत ही है कि "बच्चे की शिक्षा उसकी उत्पत्ति से पहले ही शुरू हो जाती है।" अतएव अन्य कई महापुरुषों की भाँति कनफ़्यूशियस की भी प्रारंभिक शिक्षा में माता का सबसे बड़ा हाथ रहा।

इसके बाद पास ही के एक मदरसे में किताबी शिक्षा शुरू हुई और कहा जाता है कि चौदह साल की उम्र में ही इस प्रतिभाशाली बालक ने वह सब कुछ पढ़ डाला, जो उन दिनों के अध्यापक पढ़ा सकते थे।

पितृहीन बालक—निराश्रय माता का यह एकमात्र आश्रय—पढ़ता भी और अक्सर मछलियों का शिकार और अन्य जंतुओं का आखेट भी किया करता, ताकि माता का बोझ कुछ हल्का हो सके। इससे उसके अध्ययन की व्यवस्था और रुचि में व्यवधान तो उपस्थित अवश्य होता, पर इसी के फलस्वरूप उसकी प्रवृत्ति गंभीर विचार और एकान्त चिंतन की ओर होने लगी। अन्त में उसके सत्रह साल की अवस्था तक पहुँचते-न-पहुँचते माता को इस बात में सफलता मिल गई कि वह बेटे को अपने अध्ययन से विरत करके किसी लाभदायक व्यवसाय में लगा सके। युवक की विद्या की प्रसिद्धि दरबार तक पहुँच ही चुकी थी।

अब धन की प्रचुरता हुई, शादी हुई, बच्चा भी हुआ। दरबार में सम्मान होने और द्रव्याभाव के मिट जाने ने मानव-जाति के इस भावी शिक्षक की जीवन-धारा एक विशेष दिशा में प्रवाहित होने लगी, पर शीघ्र ही वह धारा एक दिन रुक गयी और उसकी दिशा बदल गई।

उसका चौबीसवाँ साल लग रहा था कि उसकी प्रेममयी माता की मृत्यु हो गई। यह असह्य आघात उस मानव-हितैषी का कोमल हृदय सहन नहीं कर सका। माता की अंत्येष्टि क्रिया समाप्त करके अब उसने पुनः अपने एकान्त को अपनाना प्रारंभ कर दिया। फिर वही चिन्तन, मनन, शिक्षण आदि!

पूर्व के अनेक भाग्यवादी विचारकों ने मानव के दुःखों का निवारण पाया है प्रायः सन्तोष और सहनशीलता में—दुःखों के आदर्शीकरण में। दुर्बलों को ऊँचा उठाना नहीं वरन् उन पर दया करना उनका आदर्श रहा है। और इसी कारण अबला स्त्री अपनी शारीरिक दुर्बलताओं के कारण उनकी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति की एक प्रमुख भूमि रही है। "पति को स्वामी की तरह आज्ञा देनी चाहिए, और पत्नी को उसके आगे आत्म-समर्पण करना चाहिए, उसका आज्ञापालन करना चाहिए। पति सदा नेतृत्व करता और आज्ञा देता हुआ, तथा पत्नी सदा अनुगमन और समर्पण करती हुई चले। और ये सब बातें न्याय, पवित्रता और सम्मान पूर्वक निश्चित मर्यादा के भीतर ही होनी चाहिएँ," कनफ़्यूशियस की तरह इस विचार के पोषक अधिकांश दार्शनिकों के जीवन में सदा ही यह दुर्घटना रही है कि स्वयं उनका ही वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं रहा है। लगभग २७ वर्ष की अवस्था ही में कनफ़्यूशियस को अपनी पत्नी को त्याग देना पड़ा। इतिहास को इसका कोई कारण ज्ञात नहीं है और न स्वयं कनफ़्यूशियस ही ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। पर इतना निर्विवाद है कि यह दुर्घटना पत्नी के किसी दुष्कृत्य के कारण नहीं घटी, क्योंकि कई साल बाद जब कनफ़्यूशियस ने उसकी मृत्यु का समाचार सुना, तो वह दुःखी हुआ और उसने उसके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया था।

इस विवाहोच्छेद का कारण यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह मौलिक रूप से विवाह के विरुद्ध और आजीवन ब्रह्मचर्य का पक्षपाती रहा हो, क्योंकि एक बार लू (चीन का एक प्रदेश) के राज्याधीश से विवाह पर बात करते हुए उसने कहा था—"विवाह मनुष्य की एक स्वाभाविक अवस्था है, जिसके द्वारा वह इस संसार में अपना कर्त्तव्य पूरा करने की योग्यता प्राप्त करता है।"

लू का राज्याधीश अपने मुसाहिबों के प्रभाव से पहले तो कनफ़्यूशियस की शिक्षा का विरोधी हो गया था, पर दिनों-दिन बिगड़ती हुई राज्य की अवस्था ने उसे विवश किया कि इस विचारक से सहायता प्राप्त करें और राज्य के साथ मिटती हुई अपनी सत्ता को पुनः स्थापित करें। अतएव कनफ़्यूशियस फिर सार्वजनिक जीवन में एक मंत्री के रूप में आया। इस पद पर स्थापित होते ही उसने लोकहित के अनेक कामों से राज्य की अवस्था में कायापलट कर दिया। मंत्री के पद के साथ ही उन दिनों प्रधान न्यायाधीश का पद भी जुड़ा हुआ था। अतएव शासन के साथ-साथ उसे न्याय भी करना पड़ता था।

चीन का अप्रतिम महापुरुष कनफ़्यूशियस
(ईस्वी पूर्व ५५०—४७८)

एक बार आवारागर्दी की हालत में त्से प्रदेश की सीमा में पहुँचने पर उससे वहाँ के राज्याधीश ने प्रश्न किया था—"अच्छा शासन किसे कहते हैं?"

कनफ़्यूशियस ने तत्काल जवाब दिया—"अच्छे शासन की सफलता उस स्वाभाविक सम्बन्ध को क़ायम रखने में है, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच होनी चाहिए। शासक में राजोचित चरित्र, प्रजा में राजभक्ति, माता-पिता में वात्सल्य और बच्चों में श्रद्धा होनी चाहिए।"

सरदारतंत्र के ध्वंसावशेष पर खड़ी आज की पीढ़ी को यह वक्तव्य अरुचिकर हो सकता है, पर दो-ढाई हज़ार वर्ष पूर्व के उस अंधकारपूर्ण युग में, जब कि सभ्यता अपनी शैशवावस्था से धीरे-धीरे उठ रही थी, इतना कह सकना भी क्या कुछ आसान था? उन दिनों न्याय होता था सरदारों और राजाओं के लिए, आम जनता के लिए नहीं। कनफ़्यूशियस ने इस प्रथा को भंग किया और अपने

न्यायाधीश-पद से उसने एक बार दुश्चरित्र सरदार को प्राणदंड दिया। इस अभूतपूर्व कार्य पर क्षोभ का एक समुद्र उमड़ पड़ा और कनफ़्यूशियस के शिष्यों और मित्रों तक को इस पर आपत्ति हुई। पर वह अटल था। उसने कहा—"मैं आप लोगों की भावनाओं का आदर करता हूँ, गोकि आप ग़लती पर हैं। पर आपकी ग़लती आपके अज्ञान पर निर्भर है। क्या आपको मालूम नहीं है कि बहुतेरे अपराध ऐसे होते हैं, जो देखने में साधारण-से लगते हैं, पर अव-हेलना करने पर कालान्तर में मनुष्य को बड़ा अपराधी बना देते हैं। फिर एक ऐसा सरदार तो, जो स्वभाव से ही पाखंडी, झूठा, निन्दक और अत्याचारी है, कठिन-से-कठिन सज़ा के योग्य है। जिसके लिए आप अफ़सोस कर रहे हैं, वह न सिर्फ़ एक बल्कि अनेक अपराधों का अपराधी था, जिसे माफ़ करना कमज़ोरी होती, न्याय के साथ विश्वासघात होता।"

पर रूढ़िवादियों का इतने से समाधान नहीं हो सका। उनकी ईर्ष्या और क्रोध बढ़ता ही गया, गोकि राज्य की इससे उन्नति ही हुई। लू के राज्य की उन्नति और जनता के सुख-सन्तोष से पड़ौस के राज्य त्से का राज्याधीश भी जलभुन गया। सब प्रयत्न करके थक जाने पर भी जब वह कनफ़्यूशियस को नीचा नहीं दिखा सका, तो अन्त में लू के राज्याधीश को कर्त्तव्यभ्रष्ट करने के लिए उसने अपने राज्य की चुनी हुई सुन्दरियों का एक दल उपहार-स्वरूप लू के शासक के दरबार में भेजा, जिन्होंने अपने जादू का चमत्कार आते ही दिखाया। इन युवतियों के जाल में फँसकर लू के राजा ने महल से निकलना और राजकाज देखना ही छोड़ दिया। कनफ़्यूशियस ने उसे कर्त्तव्य-पथ पर लाने की बड़ी चेष्टा की, पर वह उसको सुधार नहीं सका। अन्त में ग्लानियुक्त होकर वह त्यागपत्र देकर चलता बना।

कनफ़्यूशियस
(लोकशिक्षक के रूप में)

कनफ़्यूशियस के लिए एक लेखक ने लिखा है कि 'कनफ़्यूशियस से अच्छा यह कोई आदमी नहीं जान पाया कि कब पद ग्रहण करना चाहिए, कब तक उस पर स्थिर रहना चाहिए और कब उसे त्याग देना चाहिए।'

वर्षों खानाबदोशी करते फिरने के बाद वह फिर अपने जन्म-स्थान को लौटा, और आखिर बुढ़ापे ने उसे आ घेरा। इसी बीच उसकी स्त्री मर चुकी थी और लू को वापस आने के साल भर के भीतर ही उसका बच्चा भी जाता रहा। इस दार्शनिक के अथक प्रयत्नों को प्रेरणा देनेवाले दिवास्वप्न अब भंग हो चले थे। परिपक्व अवस्था और विचारों ने उसे अब बहुत शान्त और सुस्थिर बना दिया था, यद्यपि आख़िरी दम तक वह लोकशिक्षण का कार्य करता ही रहा। पर अन्त में जब उसकी शारीरिक दुर्बलता बढ़ती गई और अपने स्वस्थ जीवन का भरोसा उठता गया, तो उसे अपनी असफलता का बड़ा दुःख होने लगा। यद्यपि उसके सिद्धान्तों का प्रचार बड़ी तेज़ी से हो रहा था और सहस्रों ज्ञान-पिपासु उन पर चिन्तन कर रहे थे, साथ ही चुने हुए शिष्यों का एक विश्वासपात्र दल भी उसकी शिक्षा के आधार पर लोक-शिक्षण का कार्य करने लगा था, पर कनफ़्यूशियस ने इससे कहीं अधिक की आशा कर रक्खी थी।

कनफ़्यूशियस ने अन्य लोक-शिक्षकों की तरह अपना कोई अलग धर्म नहीं स्थापित किया, यद्यपि उसके बाद 'कनफ़्यूशियन धर्म' नामक एक मत स्वयं ही पैदा हो गया, और आज के चीन का लगभग एक तिहाई जन-समूह इसी मत को मानता है।

कनफ़्यूशियस के जीवनकाल का वह समय, जब कि वह मुसीबत का मारा यहाँ से वहाँ दर-दर की ख़ाक छानते हुए भटकता फिरता रहा, एक दर्द-भरी कहानी है। अपने कुछ शिष्यों को साथ लिये हुए वह एक राज्य से दूसरे राज्य की ठोकरें खाता रहा, पर कहीं भी उसे पनाह न मिली। इस तरह भटकने की दशा में कई ऐसे विरक्त संन्यासियों से उसकी भेंट हुई, जो मन में संसार के प्रति ग्लानि उत्पन्न हो जाने के कारण सब कुछ छोड़-छाड़कर दुनिया से दूर बसते थे, कनफ़्यूशियस को, इस प्रकार मारे-मारे फिरने के बावजूद भी, शिक्षा द्वारा क्रूर मानव-जाति का सुधार करने की ओर प्रवृत्त देखकर ये लोग आश्चर्य करते थे। वे कहते, 'जो कभी बदल नहीं सकती उस दुनिया की क्रूर प्रकृति और दुष्ट बुद्धि को बदलने का व्यर्थ प्रयास सिवा

मूर्खता के और क्या है ?' पर इसके उत्तर में कनफ़्यूशियस कहता—'मानव-समाज से दूर हटकर उन पशुओं या पक्षियों के साथ रहना भी तो, जो मनुष्य को समझ नहीं सकते, किसी के लिए असंभव है।' वह इन लोगों से पूछता "आख़िर आप ही बताइये कि यदि मैं पीड़ित मानव का नहीं, तो और किसका साथ दूँ ?" पर दो हज़ार वर्ष पूर्व के वे चीनी उसकी यह बात समझ नहीं पाते थे और इस मुसीबत की हालत में भी जब वह लगातार उपदेश देता, पीड़ित जनों को आश्वासन देता और एक आदर्श राज्य की स्थापना के स्वप्न देखता हुआ भ्रमण करता, तो वे लोग उसे एक पगला समझते थे।

उसका वह आदर्श राज्य कभी भी स्थापित न हो सका, किन्तु उसकी दी हुई शिक्षा दृढ़ रूप से आनेवाली पीढ़ियों के मन पर अंकित हो गई। लगातार ढाई हज़ार वर्ष से लाखों-करोड़ों मनुष्यों के हृदय पर शासन करते रहना क्या किसी भी बड़े-से-बड़े साम्राज्य का अधिपति होने से कम गौरव की बात है ? इतिहास में सिकंदर, चंगीज़ख़ाँ और नैपोलियन जैसे अनेक विश्वविजेताओं की भव्य गाथाएँ हमें मिलती हैं, पर वे अब इतिहास के पन्नों ही में रह गई हैं। इसके विपरीत, विजेताओं का एक और वर्ग भी हमें मिलता है, जिन्होंने मनुष्य को कुचलकर भूमि या संपत्ति पर विजय पाने के बजाय अपना सर्वस्व त्यागकर मनुष्यों के हृदय पर विजय पाने ही में अधिक संतोष माना। ऐसे लोग प्रायः अपने जीवनकाल में भिखारी ही रहे—उनमें से बहुतेरे पीड़ित भी किये गये—किन्तु आज न सिर्फ़ इतिहास ही में उनके नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं, प्रत्युत् उनका प्रकाश हज़ारों-लाखों घरों का अंधकार दूर करता हुआ उनकी अमरता का परिचय दे रहा है। कनफ़्यूशियस इसी प्रकार के लोगों में था।

कनफ़्यूशियस ही के समकालीन एक और महात्मा चीन में हो गये हैं, जिनका वहाँ की जनता पर काफ़ी प्रभाव पड़ा है। इन महापुरुष का नाम था लाओत्ज़े। लाओत्ज़े का जन्म कनफ़्यूशियस की भाँति उच्च श्रेणी के परिवार में नहीं, वरन् एक ग़रीब झोपड़े में हुआ था। कनफ़्यूशियस जिन सिद्धान्तों का चीन में प्रचार कर रहा था, वे लाओत्ज़े के सिद्धान्तों से बिलकुल भिन्न थे। कनफ़्यूशियस जीवन और संसार से दूर भागने के बदले उसे अधिक संगठित और सुखपूर्ण बनाने का पक्षपाती था, जब कि लाओत्ज़े संसार छोड़कर उदासीन भाव ग्रहण करने के पक्ष में थे। कहते हैं, एक बार चीन के इन दो समकालीन महापुरुषों की भेंट हुई थी। उन दिनों लाओत्ज़े पेकिङ्ग नगर के समीप ही वन में एकान्तवास कर रहे थे। उनकी आयु इस समय लगभग १०० वर्ष थी। कनफ़्यूशियस ने अत्यंत विनम्रतापूर्वक इस वृद्ध महात्मा से उनकी शिक्षा या उपदेशों के संबंध में कुछ बतलाने के लिए प्रार्थना की। कहते हैं कि लाओत्ज़े ने उसे आड़े हाथों लिया और उलटे उसे फटकारना शुरू किया।

पर कनफ़्यूशियस इससे तनिक भी विचलित या नाराज़ न हुआ। वह शुद्ध जिज्ञासा के भाव से प्रेरित होकर लाओत्ज़े के समीप आया था और श्रद्धा के साथ उसकी सारी बातें सुन रहा था। लाओत्ज़े ने पूछा—"ताउ (ब्रह्म) के बारे में तुमने क्या जान पाया है ?" इस प्रश्न के उत्तर में कनफ़्यूशियस ने कहा, "अफ़सोस ! मैं पिछले ३० वर्षों से उसकी खोज में हूँ, पर अब तक मैं उसे नहीं जान पाया।" कहते हैं, इस पर लाओत्ज़े ने कनफ़्यूशियस को एक साधारण कोटि का मनुष्य समझकर तत्त्व के संबंध में अधिक कुछ भी न बताया। वास्तव में, लाओत्ज़े ने कनफ़्यूशियस के प्रति बड़ा अप्रिय बर्त्ताव किया। पर कनफ़्यूशियस ने तनिक भी बुरा न माना। उलटे वह लाओत्ज़े के बारे में ऊँचा भाव लेकर ही वापस आया।

हमें उपर्युक्त घटना से कनफ़्यूशियस के चरित्र की एक विशेष झलक मिलती है। वह सचमुच ही एक सच्चा 'मनुष्य' मात्र था और इससे अधिक होने का उसने कभी भी दावा नहीं किया। यद्यपि उसके बाद उसके नाम से एक मत स्थापित हो गया, यहाँ तक कि लोग उसके नाम पर मंदिर बनाकर उसकी पूजा भी करने लगे, परंतु स्वयं उसने अपने जीवनकाल में न कभी किसी अलौकिकता का दावा किया, न अपने को पैग़ंबर या मसीहा बतलाया।

कनफ़्यूशियस की शिक्षा का सार उसके द्वारा प्रतिपादित इस सुंदर वाक्य में निहित है—"दूसरों से तुम अपने प्रति जैसे बर्त्ताव की आशा करते हो, वैसा ही बर्त्ताव तुम स्वयं भी औरों के साथ करो।" वास्तव में संसार के अन्य कई धर्म-संस्थापकों—बुद्ध, ज़रतुश्त्र या मुहम्मद—में और कनफ़्यूशियस में एक महान् अंतर है। उन लोगों ने प्राचीन सामाजिक या धार्मिक रूढ़ियों के ढाँचे को गिराकर उस पर एक नई इमारत खड़ी की थी। इसके विपरीत कनफ़्यूशियस न तो विध्वंस न बिल्कुल नवीन रचना ही का पक्षपाती था। वह समाज के ढाँचे को उसका प्राचीन रूप स्थायी रखते हुए और भी अधिक संगठित करने का पक्षपाती था।

हिमालय से होड़—अजेय एवरेस्ट पर चढ़ाई

मनुष्य के अदम्य साहस और जीवट का नाप हमें उतने प्रखर रूप में शायद ही कहीं मिलेगा जितना प्रकृति से लोहा लेने के उसके अनवरत प्रयासों में मिलता है। जहाँ-जहाँ भी प्रकृति ने उसे ललकारा है, मनुष्य ने उसकी चुनौती को हँसते-हँसते स्वीकार किया है और यदि कहीं-कहीं उसे मात भी खाना पड़ी है, तो अधिकांश में उसने प्रकृति को नीचा भी दिखाया है।

पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित गगनचुम्बी चोटियाँ चिरकाल से मनुष्य को अपने अनुपम रहस्यमय सौंदर्य से विस्मय-विमुग्ध करती आ रही हैं। इन अज्ञात प्रदेशों में अन्तकाल से प्रकृति की जो लीलाएँ होती आ रही हैं, उन्हें जानने का कुतूहल मनुष्य के मन में होना स्वाभाविक है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों और यात्रियों ने इस रहस्य का अनुसन्धान करने के लिए अनेकों बार प्रयत्न किये हैं। वास्तव में ये लोग किसी भी वस्तु को अज्ञात नहीं रहने देना चाहते। अपने इन प्रयत्नों में हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करने में भी वे आगा-पीछा नहीं करते। उनकी ज्ञान-विज्ञान-लिप्सा, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने की उनकी उत्कंठा और प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा दिन पर दिन प्रबल होती जा रही है। हिमालय की संसार-प्रसिद्ध चोटियों पर विजय प्राप्त करने के लिए इधर कुछ वर्षों से जो भगीरथ प्रयत्न किये जा रहे हैं, वे उनकी इस महत्वाकांक्षा के स्पष्ट उदाहरण हैं।

धावा बोलनेवालों की साजसज्जा

पीठ पर बँधा हुआ यंत्र 'आक्सीजन एपैरेटस' है, जिसकी बदौलत उँचाई के वायुशून्य वातावरण में साँस लेना संभव होता है।

संसार के सबसे ऊँचे शिखर

हिमालय प्रदेश में २०००० फ़ीट से ऊँचे अनेक शैल-शिखर हैं। उनमें गौरीशङ्कर या एवरेस्ट (२९१४१ फ़ीट), कंचनजंघा (२८१४० फ़ीट), नंगा पर्वत (२६६२० फ़ीट), नन्दा देवी (२५६४५ फ़ीट) और कामेट (२५४४७ फ़ीट) नाम के पाँच शिखरों ने मानव-समाज का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है। इन पर विजय प्राप्त करने की अनेक बार चेष्टाएँ की गई हैं। परंतु अभी तक 'कामेट' और 'नन्दा देवी' को छोड़कर शेष सभी चोटियाँ अजेय बनी हुई हैं। नाना प्रकार की कठिनाइयों और आपदाओं को झेलने, बीसियों साहसी युवकों की आहुतियाँ चढ़ाने और बार-म्बार विफल-प्रयास होने पर भी ये साहसी और मनचले आरोही निराश नहीं हुए हैं।
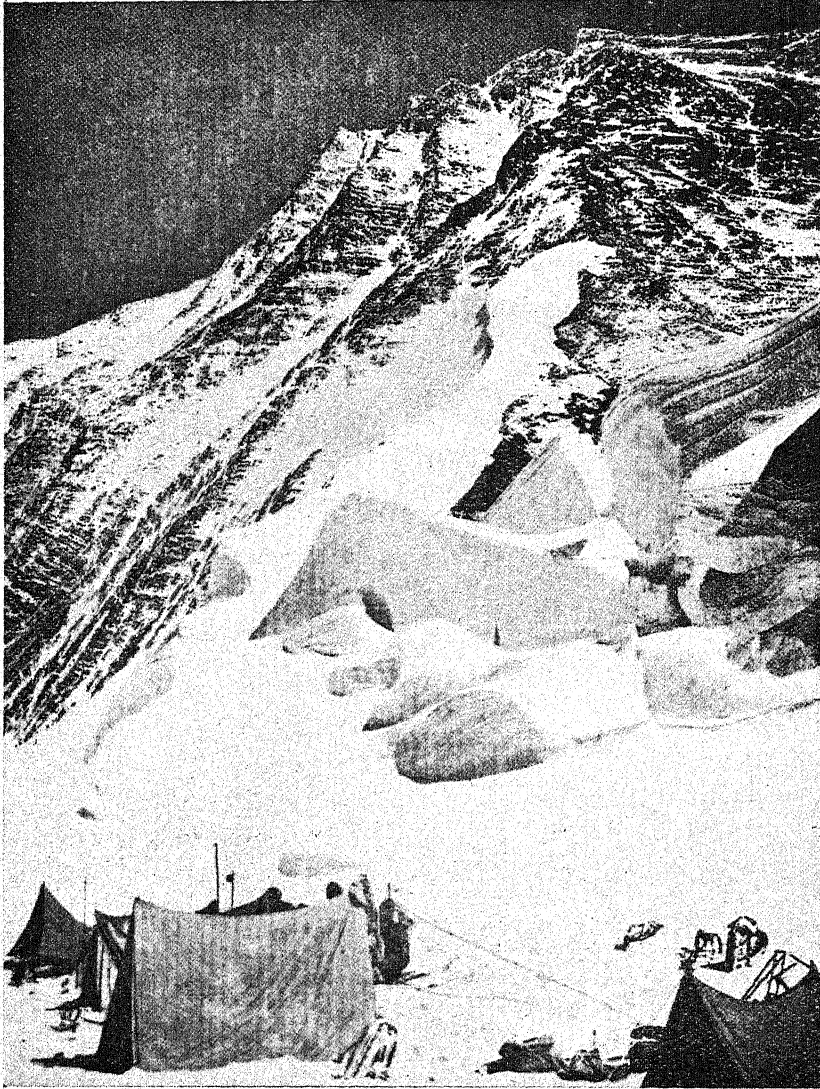
गौरीशंकर पर चढ़ाई करनेवाले वीरों का एक शिविर

इस चित्र में सन् १९२२ के धावे के समय २६००० फ़ीट की ऊँचाई पर स्थापित चौथे पड़ाव का दृश्य है। सामने एवरेस्ट का उत्तर-पूर्वीय स्तंभ है। इतनी ऊँचाई पर डेरा डालना कोई खिलवाड़ नहीं था। यहाँ के वातावरण में हवा इतनी सूक्ष्म मात्रा में रहती है कि साँस लेने में बड़ी कठिनाई होती है।

[फ़ोटो—'माउंट एवरेस्ट कमिटी'।]

चढ़ाइयाँ की हैं। पर बार-बार प्रयत्न करने पर भी अभी तक पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। सन् १९३३ में वायुयानों द्वारा अवश्य इस चोटी की परिक्रमा करने और ३३००० फ़ीट की ऊँचाई से उसके दर्शन करने में सफलता प्राप्त हुई थी। ३३००० फ़ीट की ऊँचाई तक वायुयान द्वारा उड़ान लेना भी कुछ कम जीवट का काम नहीं है, परंतु वास्तविक विजय का सेहरा तो पैदल यात्रियों ही के सिर बाँधा जायगा। इस रहस्यमय अजेय पर्वतराज का ब्योरेवार और विस्तृत वृत्तान्त ज्ञात करने का एकमात्र उपाय पैदल चढ़ाई करना ही है।

सर फ़्रांसिस यंग-हसबैंड

एवरेस्ट प्रदेश की यात्रा करने और उसके सर्वोच्च शिखर तक पहुँचने की प्रेरणा पाश्चात्य लोगों में सबसे पहले सर फ़्रांसिस यंग-हसबैंड को हुई। यह १८९३ ई० की बात है। पर उस समय बहुत कुछ ज़ोर लगाने पर भी

मानव के ज्ञानभण्डार को भरने के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील हैं, चाहे उन्हें सफलता मिले या न मिले।

एवरेस्ट, हिमालय ही का नहीं, समस्त संसार का सर्वोच्च पर्वत-शिखर है। बंगाल के स्वर्गीय राधानाथ सिकदर आधुनिक काल में इसके आदि अन्वेषक माने जाते हैं। पाश्चात्य पर्वतारोहियों ने भी इस पर अनेक बार

सर फ़्रांसिस की योजना कार्य-रूप में परिणत न हो सकी। उसके बाद १९०६ और १९०८ में इस योजना को फिर से उठाया गया। परंतु दोनों ही बार राजनीतिक कारणों से चढ़ाई के विचार को तिलाञ्जलि दे देनी पड़ी। तदनन्तर महायुद्ध के बाद पुनः इस ओर ध्यान दिया गया। इस बार भी सर फ़्रांसिस आगे आये। सर फ़्रांसिस यंग-हसबैंड ने इस संबंध

में कभी भी आशा न छोड़ी। सुप्रसिद्ध पर्वतारोही ब्रिगेडियर-जनरल ब्रूस का तो यहाँ तक कहना है कि हिमालय पर विजय प्राप्त करने की लालसा रखते हुए आज तक किसी ने भी सर फ्रांसिस की-सी लगन और अध्यवसाय से काम नहीं किया है। वास्तव में यात्रा से पूर्व की समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना उन्हीं का काम था। उनके ही परिश्रम के फलस्वरूप आगे के यात्रियों के लिए इस कार्य की ओर बढ़ने का रास्ता पहले पहल खुला।

रास्ते की खोज

१९२१ में कर्नल हावर्ड बरी के नेतृत्व में एवरेस्ट-शिखर पर चढ़ाई करने का पहला प्रयत्न आरम्भ हुआ। इस दल का काम मुख्य रूप से एवरेस्ट-शिखर के आस-पास के भूभाग की भौगोलिक जानकारी हासिल करना था। कई सप्ताह प्रयत्न करने के बाद इस दल के सदस्य २३००० फ़ीट की ऊँचाई तक पहुँच पाये। पर उसके बाद उन्हें वापस लौट आना पड़ा। इसी दल ने अगले वर्ष चढ़ाई करनेवाले आरोहियों के लिए रास्ता तय किया। यह रास्ता अब लगभग निश्चित-सा हो गया है। दार्जिलिंग से कालिम्पोङ्ग, टाटुंग, चम्बी, फारी, जोंग, खाम्पाज़ोंग, तिनकीज़ोंग, शेखरज़ोंग होकर भोंगचू नदी की घाटी को पार करके रंगबुक नामक स्थान में पहुँचना होता है। यह स्थान एवरेस्ट-शिखर से लगभग १५ मील नीचे नैपाल और तिब्बत की सीमा पर स्थित है। यहाँ से एवरेस्ट-शिखर आसानी से देखा जा सकता है।
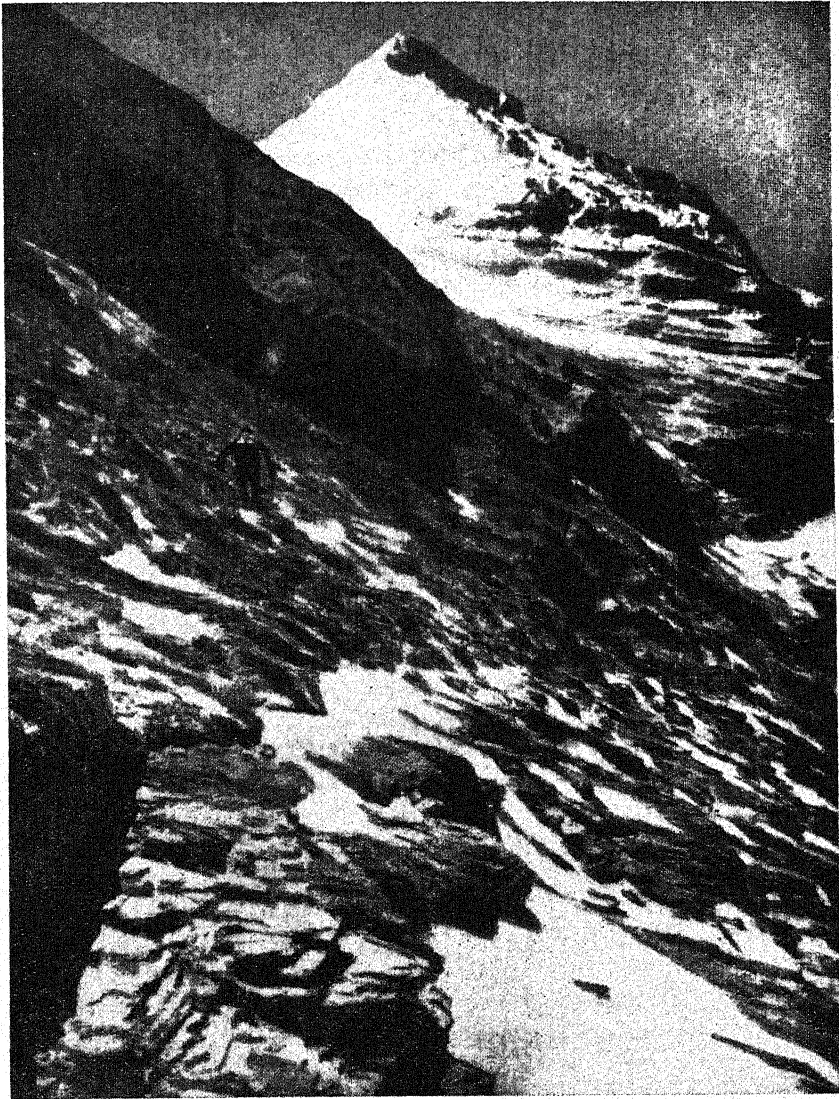
संसार के सर्वोच्च शिखर की गर्वोन्नत मुद्रा और क्षीणकाय मानव की उससे होड़

यह चित्र २८००० फ़ीट की ऊँचाई पर से डा० समरवेल द्वारा लिया गया था, जबकि कर्नल नार्टन के साथ उन्होंने १९२४ में एवरेस्ट को जीतने का साहसपूर्ण प्रयास किया था। चित्र में पहाड़ी ढाल पर कठिन चढ़ाई करते हुए नार्टन हैं, जो बर्फ़ की शिलाओं से लोहा लेते हुए २८१२६ फ़ीट तक जा पहुँचे थे!

ब्रूस-दल

हावर्ड बरी के दल के वापस आ जाने पर ब्रिगेडियर-जनरल ब्रूस के नेतृत्व में एक आरोही दल संगठित किया

गया। इस दल में १३ यूरोपियन और ६० कुली शामिल थे। यह दल मई १९२२ के शुरू में रंगबुक पहुँच गया। धीरे-धीरे ये लोग २६९९० फ़ीट की ऊँचाई तक जा पहुँचे, यद्यपि बीच में उन्हें एक ज़बर्दस्त बर्फ़ के तूफ़ान ने आ घेरा।

७ जून १९२२ की बात है। २६००० फ़ीट की ऊँचाई पर फिर से पड़ाव डालने की कोशिश की जा रही थी। २६००० फ़ीट ऊपर पहुँचते ही कुलियों को नीचे लौटा दिया जायगा, ऐसा निश्चय किया गया था। पर शुरू में कुछ खड़ी चढ़ाई पड़ती थी। पग-पग पर इस बात की आशंका बनी रहती थी कि ऊपर चढ़ते समय यात्रियों पर कहीं बर्फ़ की चट्टानें खिसककर न गिरने लगें। मलेरी, क्राफ़ोर्ड और समरवेल नामक तीन आरोही चौदह मज़दूरों को साथ लेकर आगे बढ़ रहे थे। बर्फ़ बहुत पोली थी। कहीं-कहीं तो घुटनों तक बर्फ़ में धँस जाने की नौबत आ जाती थी। आगे की चढ़ाई इससे भी कठिन थी। इसलिए अब सब लोग कमर में रस्से बाँधकर आगे बढ़े। दोपहर को डेढ़ बजे के लगभग एकाएक बड़े ज़ोर की गड़गड़ाहट की आवाज़ हुई। ऐसा सुन पड़ा मानो विकट भूचाल आ गया हो। मालूम हुआ, एक विशालकाय बर्फ़ीला पर्वतखण्ड खिसक-कर धँस पड़ा है। इसके नीचे मलेरी, क्राफ़ोर्ड और समरवेल तीनों ही वीर यात्री दब गये! आपस में रस्सों से जकड़े होने के कारण ये लोग तो किसी तरह बाहर निकल आये, परन्तु बहुत-कुछ कोशिश करने पर भी सात कुली इस दुर्घटना से न बचाये जा सके। वे सदा के लिए हिमालय की गोद में सो गये! यह अपने ढंग की पहली दुर्घटना थी। इस तरह एवरेस्ट-शिखर तक पहुँचने का प्रथम प्रयास इस लोमहर्षक दुर्घटना के साथ समाप्त हुआ।

जार्ज मलेरी और कर्नल नार्टन

यह १९२४ में कर्नल नार्टन के नेतृत्व में संगठित चढ़ाई का चित्र है। इस चित्र में जार्ज मलेरी और कर्नल नार्टन २७००० फ़ीट के लगभग पहुँचते दिखाई दे रहे हैं। [फ़ोटो—'माउंट एवरेस्ट कमिटी'।]

कर्नल नार्टन

पर सत्यान्वेषी वीरों की जिज्ञासा की लौ ऐसे संकटों से बुझनेवाली चीज़ नहीं। १९२४ ई० में फिर एक दल संगठित किया गया। इसके नेता लेफ़्टिनेंट कर्नल नार्टन थे। इस दल में भी १३ यूरोपियन सदस्य शामिल थे और सबको पर्वतारोहण का अच्छा अनुभव था। कर्नल नार्टन स्वयं बहुत ही बहादुर और जवाँमर्द आदमी था। कठिनाइयों से तो वह घबड़ाता ही न था। पर २७५०० फ़ीट की ऊँचाई पर पहुँचकर नार्टन का शरीर बेक़ाबू होने लगा। बर्फ़ की चकाचौंध में पड़ने से उसकी आँखें बहुत खराब हो गईं। उसे अपने नेत्रों से प्रत्येक वस्तु दोहरी दिखाई पड़ने लगी। अब उसके लिए एक-एक क़दम आगे बढ़ना दूभर हो गया। परन्तु फिर भी वह प्राणों की बाज़ी लगाकर आगे बढ़ता ही चला गया और २८१२६ फ़ीट की ऊँचाई तक जा पहुँचा! इससे आगे बढ़ना उसके लिए नितान्त असम्भव सिद्ध हुआ। उसे विवश हो नीचे उतरना पड़ा। नीचे आने पर उसकी आँखों की तकलीफ़ और ज़्यादा बढ़ गई और दो दिन तक तो वह बिलकुल अंधा-सा रहा। वास्तव में आज तक कोई भी इससे अधिक ऊँचे स्थान तक जाकर जीवित नहीं लौट सका है।

मलेरी और इर्विन की अमर गाथा

गौरीशंकर या एवरेस्ट का अजेय शिखर

नार्टन के विफल-प्रयास हो वापस आने के बाद अगले दिन ६ जून को दल के दो अत्यन्त उत्साही सदस्य इर्विन और मलेरी कुछ कुलियों को साथ लेकर पाँचवें पड़ाव से ऊपर की तरफ़ रवाना हुए। इर्विन इस दल का सबसे कम उम्र-वाला सदस्य था। उसकी आयु केवल २२ वर्ष की थी। वह था भी सबसे अधिक स्वस्थ, धैर्यवान् और साहस-सम्पन्न। बुद्धि-मानी उसकी बात-बात से टपकती थी। मलेरी यद्यपि था तो ३७ वर्ष का फिर भी इर्विन ही के समान नवयुवक मालूम होता था। दोनों सदस्यों को बड़े तपाक के साथ बिदा किया गया। उनकी सफलता और सकुशल वापस आने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई। परन्तु समय की गति बड़ी विचित्र है। उस समय किसी को स्वप्न में भी ध्यान न था कि मलेरी और इर्विन से वह अन्तिम भेंट थी।
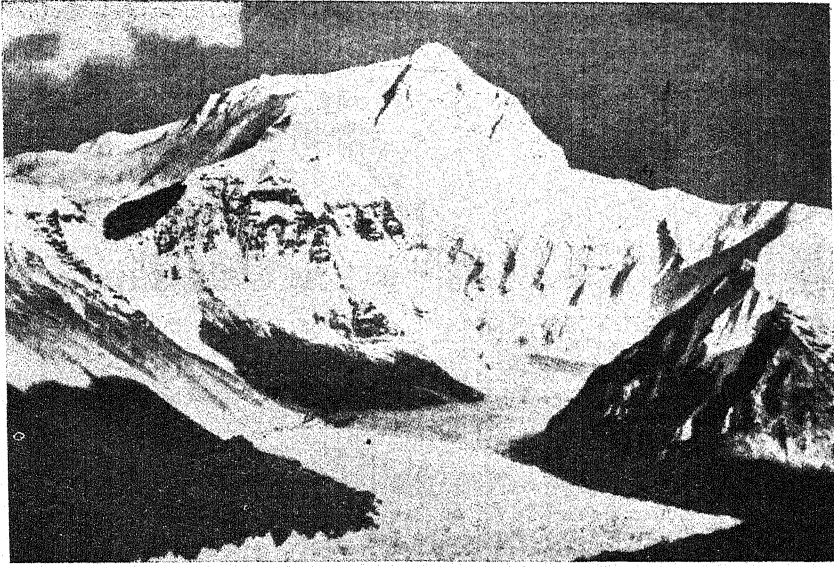
छठे पड़ाव में पहुँचकर दोनों आरोहियों ने कुलियों को नीचे लौटा दिया। उनके हाथ मलेरी ने एक पत्र भेज-कर सूचित किया था कि वे दोनों अपना सारा सामान डेरे में ही पड़ा छोड़कर केवल आक्सीजन के दो पीपे साथ में लेकर रवाना हो गये हैं, और क़ुतुबनुमा तक साथ में नहीं ले गये हैं। यह भी मालूम हुआ कि मौसम अच्छा है और उनके अनुकूल है। वास्तव में, वे चढ़ाई के लिए ऐसे ही मौसम की कामना किया करते थे।

७ जून को इन लोगों के ऊपर से वापस आने की प्रतीक्षा की गई, पर न तो वे वापस ही आये और न उनका कोई समाचार ही मिला। इससे दल के सभी सदस्य बहुत चिन्तित हो गये। अगले दिन ओडेल नाम के एक दूसरे साहसी आरोही को इन लोगों की तलाश में छठे पड़ाव की ओर भेजा गया। २६१०० फ़ीट की ऊँचाई पर पहुँचकर ओडेल को ऐसा मालूम हुआ कि कोई व्यक्ति शिखर के निचले हिस्से की चढ़ाई तय करके ऊपर पहुँच रहा है। पर्वत की चोटी वहाँ से थोड़ी ही दूर पर थी। वह व्यक्ति अवश्य ही मलेरी या इर्विन दोनों में से कोई था। इतने ही में बादल छा गये और वह व्यक्ति आँखों से ओझल हो गया। थोड़ी देर बाद ओडेल ने दोनों को बड़ी तेज़ी से ऊपर की ओर चढ़ते देखा। यह एक बजे दोपहर की बात थी। दो बजे के क़रीब ओडेल छठे पड़ाव में जा पहुँचा। उस वक़्त हवा तेज़ हो गई थी। लेकिन वह फिर भी आगे बढ़ा। २०० फ़ीट की ऊँचाई और तय करके जब फिर शिखर की ओर देखा तो इस बार कोई न दिखाई दिया। इसने सीटी बजाई, आवाज़ें दीं, चिल्लाया, पर कोई नतीजा न निकला, किसी भी तरह का उत्तर न मिला। उसे घोर निराशा हुई। उसका दिल बैठ गया। उस वक़्त हवा बहुत तेज़ हो चली थी ठंढक भी बड़ी विकट थी। उससे और आगे न बढ़ा गया। समय भी बहुत कम था। आगे बढ़कर फिर लौटना असम्भव था। वह थक भी बहुत ज़्यादा गया था। किसी तरह वह छठे पड़ाव तक वापस आया और ४॥ बजे शाम तक अपने दोनों साथियों के वापस आने का इन्तज़ार करता रहा। जब बहुत ज़्यादा देर होते देखी तो वह पाँचवें पड़ाव की ओर लौट पड़ा। वहाँ से उसे फिर चौथे पड़ाव को जाना पड़ा। इतनी ज़बरदस्त ऊँचाई पर जाकर वापस आना और फिर नीचे उतरना वास्तव में बड़े साहस और जीवट का काम था। ओडेल से पहले और किसी ने ऐसा न किया था। अगले दिन वह फिर दो आदमी साथ लेकर

मलेरी और इर्विन की खोज के लिए ऊपर गया। पर उन मनचले वीरों का पता-ठिकाना न लगा। एक दिन और खोज की गई। अन्त में निराश होकर यह विश्वास कर लेना पड़ा कि मलेरी और इर्विन सदा के लिए हिमालय की शीतल गोद में सो गये हैं और उन्हें ढूँढ़ निकालना मानवीय शक्ति की बात नहीं है ! इस तरह उन दोनों अमर वीर मलेरी और इर्विन ने अपने बहुमूल्य प्राण हिमालय की वेदी पर अर्पित कर दिये।

ओडेल ने मलेरी और इर्विन को जिस स्थान पर ओझल होते हुए देखा था, वह स्थान हिसाब करने पर २८२३० फ़ीट की ऊँचाई पर पाया गया। अभी तक कोई भी मनुष्य इससे ज़्यादा ऊँचाई पर नहीं पहुँच सका है। नार्टन २८१२६ फ़ीट की ऊँचाई तक जाकर लौट आया था। कुछ लोगों का अनुमान है कि मलेरी और इर्विन एवरेस्ट शिखर तक अवश्य पहुँच गये होंगे और उन्हें वहाँ पहुँचते-पहुँचते तीन-चार बज गया होगा। वापस आते समय रास्ते ही में सूर्यास्त हो गया होगा। और वे दोनों बहुत ज़्यादा थके होने की वजह से छठे पड़ाव तक भी न लौट सके होंगे। सम्भवतः कहीं रास्ते ही में उन्होंने किसी चट्टान की साया में रात बितानी चाही होगी। पर अत्यन्त भीषण सर्दी के कारण वे सदा के लिए वहीं पर सोते रह गये होंगे !

रटलेज दल

इसके बाद १९३३ की ग्रीष्म ऋतु में सुप्रसिद्ध पर्वतारोही ह्यू रटलेज की अध्यक्षता में एक और दल रवाना हुआ। २२ मई को यह दल २५६०० फ़ीट की ऊँचाई तक पहुँच गया। इसके बाद एक सप्ताह तक अनवरत् प्रयत्न करते रहने पर २९ मई को दल के तीन सदस्य विन हैरिस, वेगर और लोगलैंड २७४०० फ़ीट की ऊँचाई तक चढ़ गये, पर तदनंतर लाख कोशिश करने पर भी आगे बढ़ना मुहाल हो गया। सन् १९३५ में एक बार फिर चोटी तक पहुँचने की ज़बरदस्त कोशिश की गई, पर विफलप्रयास होना पड़ा। १९३६ में ह्यू रटलेज ने कुछ साथियों को लेकर अंतिम बार फिर शिखर पर चढ़ने का प्रयास किया, परन्तु इस बार भी वह निराश लौटे। हिमालय ने उन्हें सफल नहीं होने दिया।

१९३८ में

१९३८ में डब्ल्यू० एच० टिलमैन के नेतृत्व में फिर एक बार एवरेस्ट-शिखर पर चढ़ने की चेष्टा की गई। पर इस बार आरोही दल में कैप्टेन ओडेल, ई० ई० शिप्टन और एफ़० एस० स्मिथ जैसे अनुभवी पर्वतारोही शामिल हुए थे। ये लोग दो-दो बार एवरेस्ट-आरोहण के प्रयत्न कर चुके थे। इस दल को लगभग २७३०० फ़ीट तक चढ़ने में सफलता प्राप्त हुई। पर उसके बाद विवश हो लौट आना पड़ा।

अजेय हिमालय

मानव द्वारा इतने अधिक गम्भीर और भगीरथ प्रयत्नों के बाद भी अजेय हिमालय आज दिन भी अनन्त आकाश में अपना सर्वोच्च शिखर गर्व से ऊँचा किए हुए मानव समाज को चुनौती दे रहा है। उसकी दुर्गमता ही उसका एकमात्र बल है। मुट्ठी भर पसलियों का पुतला मानव जब २९ हज़ार फ़ीट ऊँचे इस हिमशृंग की बर्फ़ीली चट्टानों से टक्कर लेने के लिए आगे बढ़ता है, तो कटकटाती आँधी की दिल फाड़नेवाली चीत्कार और हिमशिलाखण्डों की हर-हर आवाज़ से उस शून्य प्रदेश को गुँजाता हुआ मनुष्य का यह विकट प्रतिद्वंदी मानो उसके असम दुस्साहस को देखकर अट्टहास्य करने लगता है ! परन्तु उसकी घोर-से-घोर ललकार भी मानव के हृदय को दहलाने में असमर्थ है—बार-बार की चढ़ाई और वीरात्माओं के अनवरत बलिदान इस बात के साक्षी हैं।

अज्ञात हुतात्माएँ

एवरैस्ट की भीषण और दुर्गम चढ़ाई में जो कुछ भी सफलता प्राप्त हुई है, उसका अधिकांश श्रेय भूटिया कुलियों को है। मुश्किलों से तो ये लोग घबराते ही नहीं। ये लोग चढ़ाई करनेवाले गोरों का सारा साजो-सामान अपने मज़बूत कन्धों पर लादकर आगे बढ़ते हैं और उन्हें सब प्रकार की सुविधायें पहुँचाने में अपनी सुविधा की तनिक भी परवाह नहीं करते। गोरों को तो ख़ाली हाथ आगे बढ़ना होता है, अधिकांश यातनाएँ और तकलीफ़ें तो इन्हीं बेचारे कुलियों को झेलनी पड़ती हैं और अपने प्राण तक निछावर कर देना पड़ता है। वर्ण-भेद के इस युग में चाहे कोई उन्हें याद करे या न करे पर भावी पीढ़ियाँ हिमालय-आरोहण के इतिहास के साथ इन वीरों का नाम अवश्य आदर के साथ लेंगी।

सफलता मिले या न मिले, जिन्होंने एवरेस्ट तक पहुँचने के प्रयत्नों में अपने प्राणों की आहुति दी है और हिमालय प्रदेश में मृत्यु के साथ क्रीड़ा करने के बाद भी जो अभी तक निराश नहीं हुए हैं, निश्चय ही उनका अदम्य साहस और उत्साह प्रशंसनीय है।

महत्वपूर्ण सम्मतियाँ

"मेरी राय में यह एक बहुत ही आकर्षक और बड़ी योग्यता तथा सजधज के साथ तैयार किया हुआ प्रकाशन है। मैं इसकी सफलता चाहता हूँ।"

(पं०) जवाहरलाल नेहरू

"मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि यह ग्रंथ विषयों की टेकनिकल या बारीक बातों को छोड़कर जनता को वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा देने में बहुत अधिक सहायक होगा। मैं इस कार्य की हर तरह से सफलता चाहता हूँ।"

(सर) स० राधाकृष्णन,
[वाइस-चांसलर, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय]

"चित्रसंचय, छपाई और विषयचयन, सभी दृष्टियों से यह उपादेय वस्तु है और भाषा भी सर्वथा विषयानुकूल है। इसके प्रकाशन और संपादन से संबंध रखनेवाले बधाई के पात्र हैं।"

(बाबू) संपूर्णानन्द,
[भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, संयुक्त प्रान्त]

"यदि इसी योग्यता से इसका सम्पादन होता रहा तो इसमें सन्देह नहीं कि अन्य भाषाओं के ज्ञान-कोषों से किसी अंश में यह कम नहीं रहेगा।"

(पं०) अमरनाथ झा
[वाइस-चांसलर, प्रयाग-विश्वविद्यालय]